लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाट

उमेश चन्द्र मिश्र

लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक

उमेश चन्द्र मिश्र

निवेदन

हिन्दी के आधुनिक नाटककारों में श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र का महत्वपूर्ण स्थान है। यह कहना कि हिन्दी में समस्या प्रधान सामाजिक नाटकों के वह जनक है, अतिशयोक्ति न होगी। नाटकों में स्वाभाविकता (Realism) चित्रित करने के साथ-साथ उसे अधिक के अधिक रंगमंच के उपयुक्त बनाने का आपने सफल प्रयास किया है। इसके अतिरिक्त दृश्य विधान की नवीन प्रथा तथा अनावश्यक गीतों का बहिष्कार आपकी अपनी देन है। भावुकता और आदर्श के स्थान पर यथार्थ और बुद्धिवादी दृष्टिकोण का सहारा लेकर विभिन्न समस्याओं का चित्रण प्रस्तुत करना आपकी नाट्यरचनाओं की एक प्रमुख विशेषता है।

ऐसे महत्वपूर्ण नाटककार की नाट्यकला पर हिन्दी में कोई भी आलोचनात्मक पुस्तक न हो यह आश्चर्यजनक ही है। प्रसाद के नाटकों पर अब तक कई उल्लेखनीय पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। मिश्र जी की अनेक रचनाएँ ऊँची कक्षाओं के पाठ्यक्रम में स्वीकृत हैं। मैं आशा करता हूँ कि प्रस्तुत पुस्तक द्वारा पाठकों को मिश्र जी के नाटकों का अध्ययन करने में बहुत कुछ सहायता मिल सकेगी।

लेखक के नाटकों के सम्बंध में नाट्यसाहित्य के इतिहास की विभिन्न पुस्तकों में जो विचार व्यक्त किये गए हैं वे संतोषजनक नहीं कहे जा सकते। किसी भी लेखक की कृतियों की आलोचना समान रूप से की जानी चाहिए। जहाँ एक ओर लेखक की रचनाओं के दोषों को प्रदर्शित करना आलोचक का कर्त्तव्य है वहाँ उसकी विशेषताओं और गुणों का भी उल्लेख किया जाना नितान्त आवश्यक है। इसके अतिरिक्त यदि हम किसी लेखक की कृतियों के बारे में पूर्व धारणा बना कर उसके सम्बंध में कुछ लिखते हैं तो यह भी किसी प्रकार उचित नहीं

कहा जा सकता। मेरा यह निश्चित मत है कि मिश्र जी की रचनाओं में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिनकी ओर विद्वान आलोचकों का ध्यान नहीं गया है और इसी कारण वे उपेक्षित हैं।

प्रस्तुत पुस्तक इसी अभाव को ध्यान में रख कर लिखी गई है। हमें अपने इस प्रयास में कहाँ तक सफलता मिली है इसका निर्णय तो विद्वज्जन ही करेंगे। हाँ, यह आत्म-विश्वास अवश्य है कि इन थोड़े से पृष्ठों में मिश्र जी की नाट्यकला और उनके नाटकों के सम्बंध में जो कुछ भी लिखा गया है उससे चाहे कोई सहमत हो अथवा असहमत, किन्तु वह पाठकों के सम्मुख लेखक की समस्त नाट्यरचनाओं को स्पष्ट कर सकेगा। इसी विश्वास के साथ यह कृति प्रस्तुत की जा रही है।

प्रथम परिच्छेद में हिन्दी नाट्य साहित्य का संक्षिप्त इतिहास तथा विभिन्न नाटककारों की कृतियों का उल्लेख किया गया है। द्वितीय परिच्छेद में नाटककार की जीवनी, रचनाओं का विभाजन और समय, लेखक का दृष्टिकोण और उसके सम्बंध में विद्वानों के विचार दिये गए हैं। तृतीय और चतुर्थ परिच्छेद में नाटककार की रचनाओं की परिचयात्मक आलोचना प्रस्तुत की गई है। अन्य नाटककारों की रचनाओं से सम्बद्ध जो आलोचनात्मक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं उनमें अधिकतर समस्त नाटकों की सामूहिक आलोचना प्रस्तुत की गई है। मेरे विचार से यदि प्रत्येक नाटक की आलोचना पृथक रूप से दी जाय तो वह पाठकों के लिए अधिक सरल और सुबोध हो सकती है। उदाहरण के लिए यदि किसी ने मिश्र जी के दो ही नाटकों का अध्ययन किया है और वह उनके पात्रों के चरित्र-चित्रण आदि के बारे में कुछ जानना चाहता है तो इसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि प्रत्येक नाटक की आलोचना पृथक् रूप से दी जाय। इसी दृष्टिकोण से प्रत्येक नाटक की आलोचना पृथक् रूप से प्रस्तुत की गई है। तृतीय परिच्छेद में पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटकों की आलोचना है तथा चतुर्थ में समस्या-प्रधान सामजिक तथा एकांकी नाटकों की। पंचम परिच्छेद नाटककार की विचारधारा से सम्बद्ध है जिसमें लेखक का जीवन-

दर्शन, उसका सामाजिक एवं पारिवारिक आदर्श तथा अन्य प्रमुख समस्याओं पर उसके विचारों का उल्लेख किया गया है। लेखक की विचार-धारा को समझने में इस परिच्छेद से विशेष सहायता मिल सकेगी, ऐसा मुझे विश्वास है। अंत में लेखक की भाषा-शैली पर विचार किया गया है।

यद्यपि मैं लीक पर चलने का कायल नहीं, फिर भी गुरुजनों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना तथा मित्रों को धन्यवाद देकर पीछा छुड़ाना आवश्यक हो जाता है। सर्व प्रथम मुझे अपने छोटे भाई प्रकाश का स्मरण हो आता है, क्योंकि यदि उसने मेरी उल्टी सीधी लिखावट को सुन्दर अक्षरों में बदल कर पाण्डुलिपि तैयार न की होती तो संभवतः पुस्तक-प्रकाशन इतना आसान न होता।

श्री विद्या निवास मिश्र ने पुस्तक की भूमिका लिखी है। उनसे मेरा जैसा सम्बंध है उसे ध्यान में रखते हुए मुझे ऐसा लगता है कि लोकाचार की दृष्टि से आभार-प्रदर्शन भले ही आवश्यक और उचित हो, किन्तु संभवतः यह औपचारिकता उन्हें रुचिकर न होगी।

अंत में अपने अभिन्न मित्र ब्रजनारायण सिंह को किन शब्दों में धन्यवाद दूँ? वस्तुतः इस पुस्तक को तैयार करने में उनसे जो सहायता और सहयोग मुझे समय-समय पर मिलता रहा है, धन्यवाद देकर उसका मूल्य नहीं चुकाया जा सकता।

उमेश चन्द्र मिश्र

भूमिका

हिन्दी नाटक साहित्य के इतिहास के चार प्रमुख युग कहे जा सकते हैं। भारतेन्दु का अनुवाद-युग जो संस्कृत नाट्य परंपरा का अनुवर्ती कहा जा सकता है, प्रसाद का ऐतिहासिक नाटक-युग जिसने पश्चिमी ऐतिहासिक नाटकों के रसोत्कर्ष और भारतीय इतिहास की पृष्ठभूमि में नाटक-रचना पर बल दिया, लक्ष्मी नारायण मिश्र का समस्या नाटक युग जो शिल्प में इब्सन, शा, मेटरलिंक, औवील और स्टेंटाल आदि-से प्रभावित है, परन्तु जो अपनी कथावस्तु में सर्वथा रत न होते हुए भी भारतीय है और अंत में ध्वनि रूपक युग जिसने पृष्ठ संगीत आदि प्रभावों पर बल देकर दृश्य गुणों से अधिक अन्य गुणों को उभारता है।

श्री लक्ष्मी नारायण मिश्र का इस प्रकार हिन्दी नाटक के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान है। नये विषयों के समावेश, शैली की सादगी अभिव्यक्ति में विचार प्रधानता और जीवन की नयी दृष्टि के कारण वे चर्चा के विषय अभी तक बने हुए हैं। उनमें अपनी नाट्यशास्त्र सम्बंधी मान्यताओं के प्रति ऐसा अभिनिवेश है कि वे कभी भी समझौता करने को प्रस्तुत नहीं हैं। उनकी रचना में प्रौढ़ता और शक्ति का इसी से प्रभूत उपादान है।

ऐसे विचारोत्तेजक यशस्वी नाटककार के कृतित्व का पर्यवेक्षण बड़ा ही रोचक विषय है। यह बहुत बड़े सुख की बात है कि मेरे तरुण मित्र उमेश चन्द्र मिश्र ने यह कार्य अपने हाथ में निबंध के लिए लिया। उन्होंने तटस्थ दृष्टि से उनकी समस्त कृतियों का तिथिक्रम से अध्ययन किया है और मिश्र जी की कलायात्रा का अत्यन्त निस्पक्ष विश्लेषण प्रस्तुत किया है। मिश्र जी के ऊपर जो जो प्रभाव संलक्ष्य या असंलक्ष्य रूप में पड़े हैं, उन प्रभावों की भी नापजोख बहुत संतुलित ढंग से की गयी है और यह बात सिद्ध की

गयी है कि जहाँ तक केवल बहिरंग का प्रश्न है, मिश्र जी पाश्चात्य नाटककारों से प्रभावित हैं और उन्होंने भावुक स्थलों का बिल्कुल परिहार किया है। परन्तु उनके आदर्श और चरित्र जो नाटक के अंतरंग की रचना करते हैं, पूर्णतया भारतीय हैं।

उमेश चन्द्र जी ने न केवल मिश्र जी के प्रत्येक ग्रन्थ का विशद् अध्ययन किया है, अपितु मिश्र जी की समग्र विचारधारा, भाषा शैली और आदर्श चिन्तना का भी बहुत ही निस्पक्ष विश्लेषण करने की कोशिश की है। मिश्र जी को समझने में इस ग्रन्थ से पाठकों को निश्चित रूप से सहायता मिलेगी, क्योंकि यह ग्रन्थ समकालीन आलोचना के रागद्वेष से बहुत कुछ विमुक्त है। नाटककार लक्ष्मी नाराण मिश्र पर प्रथम आलोचनात्मक ग्रन्थ होने के कारण प्रस्तुत रचना का विशेष महत्त्व होगा, इसमें भी लेशमात्र सन्देह नहीं।

मुझे पूर्ण विश्वास कि उमेश चन्द्र मिश्र की पैनी प्रतिभा से हिन्दी और भी ऊँची आशाएँ कर सकती है।

विद्यानिवास मिश्र

विषय-सूची

नाट्य साहित्य की परम्परा

नाट्यसाहित्य की परम्परा

संस्कृत नाट्यशास्त्र के आचार्यों ने नाटक के प्रत्येक तत्व की गंभीर एवं विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है। वस्तु-विषय का विभाजन करने के साथ ही आचार्यों ने रंगमंच-निर्माण तथा पात्रों के अभिनय आदि के सम्बंध में भी सविस्तार व्याख्या की है।

भरत मुनि ने ब्रह्मा को नाटक का निर्माता बताते हुए नाट्यशास्त्र में पंचमवेद के नाम से उसका इस प्रकार उल्लेख किया है :—

न वेद व्यवहारोऽयं संश्राव्य: शूद्र जातिषु।
तस्मात सृजा परंवेदं पंचमं सर्व वर्णिक्रम ॥

भरत मुनि के बाद भी नाट्यशास्त्र से सम्बद्ध अनेक ग्रन्थों की रचना की गई जिनमें से धनंजय कृत 'दशरूपक' तथा विश्वनाथ रचित 'साहित्य दर्पण' ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

ललित कलाओं में आचार्यों ने काव्य को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान किया है। काव्य के दो मुख्य भेद माने गये हैं—(१) श्रव्य काव्य (२) दृश्य काव्य। श्रव्य काव्य के अंतरगत उपन्यास, कहानी, गीति, प्रबन्ध आदि आते हैं। नाटक दृश्य काव्य है। संस्कृत साहित्य के अनुसार नाटक मुख्यत: रूपक का ही भेद है, किन्तु हिन्दी में साधारणत: नाटक शब्द प्रयुक्त होता है।

नाट्यशास्त्र के आचार्यों के अनुसार नाटक में तीन तत्व प्रमुख हैं :—(१) वस्तु (२) पात्र (३) रस। नाटक में इन तत्वों का क्या महत्व है और प्रत्येक तत्व का नाटक में किस प्रकार समावेश किया जाना आवश्यक है इन सबका नाट्यशास्त्र के प्राचीन आचार्यों ने अत्यन्त विस्तृत विवेचन किया है। आचार्यों ने रूपक के दस भेद इस प्रकार माने

हैं—नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, बीथी, अंक तथा ईहामृग।

भारतेन्दु युग के पूर्व के नाटक

हिन्दी नाटकों का आरम्भ संस्कृत नाट्यप्रणाली पर ही आधारित है। इसमें संदेह नहीं कि कालान्तर में अंग्रेजी नाट्यसाहित्य का भी हिन्दी नाटकों पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा, किन्तु हिन्दी नाटकों का उद्गम संस्कृत के अनुवादित नाटकों द्वारा ही हुआ। विद्वानों के मतानुसार हिन्दी का सर्व प्रथम नाटक 'प्रबोध चन्द्रोदय' है। यह नाटक जोधपुर नरेश महाराज जसवंत सिंह द्वारा सन् १६४३ ई० के लगभग संस्कृत से अनुवादित किया गया।

मौलिक नाटकों में सर्वप्रथम नाटक 'आनन्द रघुनन्दन' है जिसकी रचना रीवा नरेश महाराज शिवसिंह जू देव द्वारा की गई। अनुमानतः इस नाटक की रचना सन् १७०० में हुई। नाटक की भाषा ब्रजभाषा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी की नाट्यपरम्परा अनुवादित तथा मौलिक दोनों रूपों में चलती है।

बनारसीदास का 'समय सार', ब्रजवासीदास द्वारा अनुवादित 'प्रबोध चन्द्रोदय' तथा 'हनुमन्नाटक' आदि इसी समय की रचनाएँ हैं। नेवाज कृत 'शकुन्तला' और देव कवि कृत 'देवमाया प्रपंच' नाटक भी इसी वर्ग में आते हैं। इसी परम्परा में आगे चलकर राजा लक्ष्मण सिंह द्वारा अनुवादित 'शकुन्तला' (रचनाकाल सन् १८६१) और भारतेन्दु जी के पिता गोपाल चन्द्र कृत 'नहुष' जिसे भारतेन्दु जी ने प्रथम मौलिक नाटक माना है, (रचनाकाल सन् १८४१), नाटक लिखे गये।

अनुवादित नाटकों के अतिरिक्त इस समय के मौलिक नाटकों में भी संस्कृत नाट्यप्रणाली का अनुकरण है। इन नाटकों का आरम्भ मंगलाचरण और प्रस्तावना से होता है। 'आनन्द रघुनन्दन' में अंक का विभाजन और दृश्य परिवर्तन संस्कृत प्रथा के अनुसार ही है। नाटक का अंत भरत वाक्य से होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी

नाट्यसाहित्य का सूत्रपात संस्कृत की नाट्यप्रणाली से ही हुआ। इस काल के नाटकों का आधार धार्मिक विचारधारा है। साधारण जीवन की समस्याओं को इन नाटकों में कोई स्थान नहीं दिया गया।

सर्व प्रथम रंगमंचीय नाटक सैयद आगाहसन 'अमानत' रचित 'इन्दर-सभा' (रचनाकाल १८५३) है। इसकी भाषा हिन्दी उर्दू मिश्रित है। इसमें संस्कृत नाट्यप्रणाली के अनुसार नाटक की कथावस्तु तथा कवि-परिचय आदि की सूचना सूत्रधार द्वारा नहीं दी जाती वरन्-इन सब बातों की सूचना या तो निर्देशक द्वारा मिलती है अथवा कोई पात्र स्वयं अपना परिचय और आगामी कार्यक्रम की सूचना दे देता है। इस प्रकार यह नाटक न होकर गीतनाट्य ही है।

इसके अतिरिक्त अन्य नाटक भी ऐसे हैं जो केवल संज्ञात्मक रूप से नाटक कहे जा सकते हैं। उनमें न पात्रों के प्रवेश और प्रस्थान का संकेत है और न अंक परिवर्तन अथवा दृश्य-विभाजन ही है। यह सभी रचनाएँ कविता में हैं, अतः इन्हें नाटकीय काव्य (Dramatic Poetry) कहा गया है। 'हनुमन्नाटक', 'समयसार नाटक', 'करुणाभरण नाटक', 'शकुंतला उपाख्यान', 'समयसार नाटक' इसी श्रेणी के अंतर्गत आते हैं।

डा० सोमनाथ गुप्त ने इस युग के नाटकों की चार धाराओं का उल्लेख किया है —

१. नाटकीय कविता (Dramatic Poetry)

२. अनुवादित नाटक

३. मौलिक नाटक

४. रंगमंचीय नाटक

यह युग नाटक का प्रारंभिक युग था अतएव इसमें मौलिक रचनाएँ बहुत ही कम संख्या में हुईं। जो दो-चार मौलिक रचनाएँ हुईं उनकी कथावस्तु पौराणिक आख्यान रहे। धार्मिक नाटकों के अतिरिक्त ऐतिहासिक अथवा सामाजिक नाटकों की ओर किसी भी नाटककार की दृष्टि नहीं गई। इन नाटकों की भाषा में हिन्दी उर्दू मिश्रित ब्रजभाषा का प्राधान्य मिलता है।

भारतेन्दु युग के नाटक

हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु और उनकी कृतियों का विशिष्ट स्थान है। उनके पूर्व हिन्दी में नाटकों की संख्या बहुत ही कम थी। उनकी दृष्टि इस अभाव की ओर गई और उन्होंने कई नाटकों की रचना की। भारतेन्दु जी ने कुल अठारह नाटक लिखे जिनमें एक नाटक अप्राप्त है। उन्होंने पाँच नाटकों का संस्कृत से, एक का बँगला से तथा एक का अंग्रेजी से अनुवाद किया। शेष दस नाटक मौलिक हैं।

भारतेन्दु के नाटकों के सम्बंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है,—"भारतेन्दु के नाटकों में सबसे पहिले ध्यान इस बात पर जाता है कि उन्होंने सामग्री जीवन के कई क्षेत्रों से ली है। 'चन्द्रावली' में प्रेम का आदर्श है। 'नीलदेवी' पंजाब के एक हिन्दू राजा पर मुसलमानों की चढ़ाई का ऐतिहासिक वृत्त लेकर लिखा गया है। 'भारत दुर्दशा' में देश-दशा बहुत ही मनोरंजक ढंग से सामने लायी गई है। 'विषस्य—विषमौषधम्' देशी रजवाड़ों की कुचक्रपूर्ण परिस्थिति दिखाने के लिए रचा गया है। 'प्रेम-जोगिनी' में भारतेन्दु ने वर्तमान पाखंडमय धार्मिक और सामाजिक जीवन के बीच अपनी परिस्थिति का चित्रण किया है, यही उसकी विशेषता है।"

भारतेन्दु के समय पारसी थियेटर कंपनियाँ अपने व्यावसायिक दृष्टिकोण से अत्यंत कुरुचिपूर्ण और रोमांचकारी नाटकों का प्रदर्शन कर रही थीं। भारतेन्दु का ध्यान इस ओर गया और उन्होंने जनसाधारण के लिए सुन्दर और कलात्मक नाटकों की रचना की। भारतेन्दु के समय देश, समाज और साहित्य की क्या स्थिति थी और किस प्रकार उन्होंने प्राचीनता और नवीनता का सामंजस्य उपस्थित कर अपनी रचनाओं द्वारा जनसाधारण में नवीन चेतना जागृत की। इसका उल्लेख करते हुए श्री ब्रजरत्नदास ने लिखा है—"यह हिन्दी साहित्य की प्राचीनता तथा नवीनता के उस संघर्ष-काल में अवतीर्ण हुए थे जब कि प्राचीनता की खिल्ली उड़ाने वाले नवीनता लाने में असमर्थ हो रहे थे। हिन्दी का कौन रूप सर्वग्राह्य होगा

तथा हिन्दी साहित्य के अभावों की पूर्ति किस प्रकार होगी, ये प्रश्न जटिल हो उठे थे। ठीक इसी समय भारतेन्दु ने कर्णधार बनकर हिन्दी को ऐसा रूप दिया, प्राचीनता तथा नवीनता के साथ इस प्रकार सुचारु रूप से सामंजस्य किया तथा उसके सभी अभावों की पूर्ति की ओर इस प्रकार अग्रसर हुए कि तत्कालीन हिन्दी संसार, प्राचीनता तथा नवीनता दोनों का हिमायती उनका अनुगामी हो उठा। दोनों ही दलों का एक ऐसा मंडल इनके चारों ओर घिर गया, जिसने हिन्दी के उन्नयन में इनका हाथ बँटाया।"

भारतेन्दु के नाटक

भारतेन्दु के अनुवादित तथा रूपांतरित नाटकों में 'धनंजय विजय', 'रत्नावली', 'पाखंड विडंबन', 'मुद्राराक्षस', कर्पूरमंजरी तथा 'दुर्लभ बन्धु' नाटक आते हैं। 'धनंजय विजय' कांचन कवि कृत संस्कृत नाटक का अनुवाद है। यह अनुवाद मूल के अनुसार गद्य-पद्यमय है। अनुवाद होते हुए भी नाटक अत्यंत सजीव और सरस है। 'रत्नावली' हर्ष देव रचित संस्कृत नाटक का अनुवाद है जिसकी भाषा सरल होने के साथ ही साथ गद्य-पद्यमय है। 'पाखंड विडंबन' के नाम से भारतेन्दु ने सं० १६२६ में कृष्ण मिश्र कृत 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक के तृतीय अंक का संस्कृत से अनुवाद किया। विशाख दत्त कृत 'मुद्राराक्षस' संस्कृत का अत्यंत प्रसिद्ध नाटक है। इसका अनुवाद इतना सुन्दर और सजीव है कि पढ़ने में मूल का आनन्द आता है। भारतेन्दु ने वीर रस के इस नाटक का अनुवाद गद्य-पद्यमय भाषा में अत्यंत सुन्दर ढंग से किया है। 'कर्पूर मंजरी' का अनुवाद प्राकृत से किया गया है। शृंगार और हास्य रस के इस नाटक का अनुवाद करने में भारतेन्तु को अत्यधिक सफलता मिली है। भारतेन्दु ने शेक्सपियर के 'मर्चेंट आफ़ वेनिस' का हिन्दी में 'दुर्लभ बन्धु' के नाम से अनुवाद किया। इस अपूर्ण नाटक को बाद में पं० रमाशंकर व्यास तथा बाबू राधाकृष्ण दास ने पूरा किया।

भारतेन्दु के 'सत्य हरिश्चन्द्र' नामक नाटक के सम्बंध में दो मत हैं

बाबू श्याम सुन्दर दास तथा बाबू ब्रजरत्नदास इसे मौलिक रचना मानते हैं किन्तु आचार्य शुक्ल और श्री परशुराम चतुर्वेदी के मतानुसार यह संस्कृत के 'चण्ड कौशिक' नामक नाटक से प्रभावित है। अनुवाद में मूल से कहीं कहीं समानता और भिन्नता दोनों ही मिलती है।

भारतेन्दु के अन्य नाटक 'विद्यासुन्दर' के सम्बंध में लेखक ने स्वंय लिखा है,—"यतीन्द्र मोहन ठाकुर·····ने 'विद्यासुन्दर' नाटक बनाया था, उसी की छाया लेकर······यह हिन्दी भाषा में निर्मित हुआ।"

भारतेन्दु के मौलिक नाटकों में 'प्रेम जोगिनी', 'चन्द्रावली', 'भारत जननी', 'भारत दुर्दशा', 'सती प्रताप' तथा 'नील देवी' प्रमुख हैं। 'प्रेम जोगिनी' भारतेन्दु की अपूर्ण रचना होते हुए भी महत्वपूर्ण है। इसमें कुल चार गर्भांक हैं और लेखक ने इसमें वास्तविकता चित्रित करने का सफल प्रयास किया है। 'चन्द्रावली' भारतेन्दु की उत्कृष्ट रचनाओं में से है। चार अंक की इस नाटिका में शृंगार रस का अत्यंत सजीव और हृदयग्राही चित्र उपस्थित किया गया है। 'भारत जननी' में एक ही दृश्य है जिसमें नाटककार की देश प्रेम की भावना दृष्टिगोचर होती है। 'भारत दुर्दशा' में देश के प्राचीन गौरव और उसकी वर्तमान हीन दशा का नाटककार ने अत्यंत मर्मस्पर्शी चित्र खींचा है। 'नीलदेवी' भारतेन्दु का ऐतिहासिक नाटक है जिसमें भारतीय नारी की वीरता और पतिव्रत धर्म का सुन्दर निर्वाह उपस्थित किया है। वीर और करुण रस के इस नाटक में भारतेन्दु अत्यंत सफल हुए हैं। 'सती प्रताप' के चार दृश्य सं० १६४१ में लिखे गये जिसे बाद में बाबू राधाकृष्ण दास ने पूरा किया। इस नाटक में सावित्री और सत्यवान की कथा का वर्णन है।

भारतेन्दु ने 'अंधेर नगरी', वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', तथा 'विषस्य विषमौषधम्' नामक तीन प्रहसन भी लिखे। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' प्रहसन (रचना काल १८७३) में धर्म की ओट में किये गए दुराचार का वर्णन है। हास्य और व्यंग्य से युक्त यह प्रहसन अत्यंत सफल है। 'विषस्य विषमौषधम्' नामक प्रहसन में नाटकार ने उस समय के

राजाओं द्वारा प्रजा पर किये गए अत्याचार का सफल चित्र खींचा है। 'अंधेर नगरी चौपट्ट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा, नामक प्रहसन अत्यंत लोकप्रिय हुआ। इस प्रहसन में नाटककार ने लोभ का दुष्परिणाम और भले बुरे की व्याख्या प्रस्तुत की है।

श्री ब्रजरत्नदास ने भारतेन्दु के नाटकों के सम्बंध में लिखा है—"इस प्रकार यह देखा जाता है कि हिन्दी में नाटकों का आरंभ भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की ही रचनाओं से हुआ है और उनके नाट्यशास्त्र ज्ञान की परख उनकी मौलिक आठ-नौ रचनाओं से ही की जा सकती है। इनमें पौराणिक, ऐतिहासिक सभी प्रकार के नाटक हैं।" संक्षेप में हम यह कह सकते है कि भारतेन्दु ने अपने नाटकों में जहाँ एक ओर संस्कृत नाट्य-प्रणाली का ध्यान रखा वहाँ दूसरी ओर उन्होंने नाटकों के विषय को अत्यंत विस्तृत बना दिया।

भारतेन्दु युग के अन्य प्रमुख नाटककार

भारतेन्दु काल के नाटककारों में निम्नलिखित लेखकों के नाम उल्लेखनीय हैं :—श्री बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', श्री राधाचरण गोस्वामी, पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० मोहन लाल विष्णुलाल जी पंड्या, पं० प्रतापनारायण जी मिश्र, श्री काशीनाथ खत्री, श्री शालिग्राम, श्री राम-कृष्ण वर्मा, श्री केशवराम भट्ट, श्री मथुरा प्रसाद उपाध्याय, श्री गदाधर भट्ट, श्री निवासदास, श्री शीतलाप्रसाद, श्री दामोदर शास्त्री, श्री राधाकृष्ण दास, श्री बालमुकुन्द गुप्त, श्री अयोध्या सिंह उपाध्याय, श्री अम्बिकादत्त व्यास तथा श्री किशोरी लाल।

श्री बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' कवि के रूप में अत्यंत प्रसिद्ध हैं। आपने 'वृद्ध विलाप', 'प्रयाग रामागमन,' 'वारांगना रहस्य' तथा भारत सौभाग्य' नामक चार नाटकों की रचना की। 'प्रेमघन' जी के यह नाटक भाषा, चरित्र-चित्रण, तथा वस्तु-संगठन आदि सभी दृष्टियों से शिथिल हैं। फिर भी उस समय की रचना होने के कारण इनका महत्व है। इन नाटकों में 'प्रयाग रामागमन' नाटक सर्वोत्तम है।

श्री राधाचरण गोस्वामी ने कई छोटे छोटे रूपकों की रचना की जिनमें से एक अनुवाद है और अन्य सभी उनकी मौलिक रचनाएँ हैं। आपके नाटकों में से 'श्रीदामा,' 'चन्द्रावली', 'अमर सिंह राठौर, 'तन मन धन गोंसाई जी में अर्पण' आदि नाटक उल्लेखनीय हैं।

पं० बालकृष्ण भट्ट का स्थान हिन्दी के प्रसिद्ध गद्य लेखकों में से है। आपने माइकेल मधुसूदनदत्त के दो बँगला नाटकों का 'पद्मावती' तथा 'शर्मिष्ठा नाम से अनुवाद किया। सामाजिक विषयों को लेकर लिखे गए नाटकों में से 'कलिराज की सभा', 'रेल, का विकट खेल' तथा 'बाल विवाह' नाटक उल्लेखनीय हैं। प्रहसनों में 'शिक्षादान', 'आचार विडम्बन' तथा 'नई रोशनी' प्रमुख हैं। भट्ट जी के समस्त नाटकों की भाषा अत्यंत सजीव और मुहावरेदार है। प्रहसनों की भाषा व्यंग्य और परिहास से ओत-प्रोत है।

श्री मोहनलाल विष्णुलाल जी पंड्या ने केवल एक नाटक 'प्रहलाद' लिखा है। भाषा की दृष्टि से यह सफल नाटक है।

पं० प्रतापनारायण मिश्र के नाटकों में से 'भारत-दुर्दशा,' 'गो संकट,' 'कलि प्रभाव', जुआरी,' 'खुआरी,' 'हठी हमीर,' 'संगीत-शाकुंतल' तथा 'कालिकौतुक रूपक' प्रमुख हैं। यद्यपि इन नाटकों को कला की दृष्टि से उच्चकोटि का नहीं कहा जा सकता, किन्तु हास-परिहास से परिपूर्ण मुहावरेदार भाषा के कारण नाटकों में सजीवता है।

श्री काशीनाथ खत्री द्वारा रचित 'तीन ऐतिहासिक रूपक' नाम से एक संग्रह है जिसमें 'सिन्धु देश की राजकुमारियाँ', 'गुन्नौर की रानी,' तथा 'लवजी का स्वप्न' नामक तीन छोटे छोटे ऐतिहासिक रूपक संगृहीत हैं। आपके दो अन्य नाटक 'ग्राम पाठशाला' तथा 'निकृष्ट नौकरी' नाम से प्रकाशित हुए। आपके यह नाटक नाटकीय दृष्टि से शिथिल होते हुए भी तत्कालीन सामाजिक स्थिति का चित्र उपस्थित करने में समर्थ हैं।

श्री शालिग्राम ने विभिन्न विषयों पर कई पुस्तकों की रचना की जिनमें से 'माधवानल-कामकंदला,' पुरुविक्रम,' अभिमन्यु-वध' 'मयूरध्वज,' 'अर्जुन-मदमर्दन' तथा 'लावण्यवती' नाटक उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों

में से कलात्मकता की दृष्टि से कोई भी नाटक उच्चकोटि का नहीं कहा जा सकता। कथावस्तु की शिथिलता, नाटकीय दोष तथा कथोपकथनों की भाषा के दोष प्रायः आपके सभी नाटकों में समान रूप से मिलते हैं।

श्री रामकृष्ण वर्मा ने बँगला से कुछ नाटकों का अनुवाद किया है। 'कृष्ण कुमारी', 'पद्मावती' तथा 'वीरनारी' अनुवादित नाटक हैं। इन नाटकों की भाषा मँजी हुई और प्रभावपूर्ण है।

श्री केशवराम भट्ट ने दो नाटक—'सज्जाद संबुल' तथा 'शमसाद सौसन' नाम से लिखे हैं। बँगला के आधार पर इन नाटकों की रचना की गई है किन्तु नाटकों की भाषा और कथावस्तु सुगठित तथा रोचक है।

श्री मथुरा प्रसाद उपाध्याय ने शेक्सपियर के प्रसिद्ध अंग्रेजी नाटक 'मैकबेथ' का 'साहसेन्द्र साहस' नाम से हिन्दी में अनुवाद किया। अनुवाद की भाषा संस्कृत गर्भित क्लिष्ट हिन्दी होते हुए भी रोचक और सफल है।

श्री गदाधर भट्ट ने, 'मृच्छकटिक' का हिन्दी में सफल अनुवाद किया। इसके पूर्व आपने 'मुद्राराक्षस' का भी अनुवाद किया था, किन्तु भारतेन्दु जी के अनुवाद के प्रकाशित हो जाने पर उसको प्रकाशित नहीं कराया।

श्री निवासदास के लिखे चार नाटक—'प्रह्लादचरित,' 'तप्त संवरण,' 'संयोगता-स्वयंवर' तथा 'रणधीर प्रेम मोहिनी' हैं। आपके नाटकों में से 'रणधीर प्रेम मोहिनी' सर्वोत्तम रचना है। शेष नाटक साधारण कोटि के हैं।

श्री शीतला प्रसाद ने 'जानकी मंगल' तथा 'रामचरितावली' इन दो नाटकों की रचना की है। नाटक की भाषा गद्य-पद्यमय हिन्दी है।

श्री दामोदर शास्त्री ने 'बालखेल' तथा 'राधामाधव' नाम से दो नाटक लिखे हैं। इसके अतिरिक्त आपने रूपक रूप में 'रामलीला सातों कांड' की रचना भी की है। भाषा की दृष्टि से ये रचनाएँ सफल हैं।

श्री राधाकृष्ण दास भारतेन्दु जी के रिश्तेदार थे। आपने लगभग पच्चीस ग्रंथों की रचना की है। 'दुःखिनी बाला,' 'महारानी पद्मावती,' अथवा 'मेवाड़ कमलिनी,' 'धर्मालाप' तथा 'महाराणा प्रताप' आपकी

नाट्य रचनाएँ हैं। 'महाराणा प्रताप' आपका सर्वोत्तम ऐतिहासिक नाटक है। भाषा, कथावस्तु तथा चरित्र चित्रण सभी दृष्टि से आपके नाटक सफल कहे जा सकते हैं।

श्री बाल मुकुन्द गुप्त हिन्दी के यशस्वी लेखकों में से थे। आपने भारतेन्दु जी की 'रत्नावली' का अनुवाद पूरा किया। अनुवाद की भाषा गद्य-पद्यमय हिन्दी है।

श्री अयोध्या सिंह उपाध्याय की प्रतिभा सर्वतोन्मुखी थी। आपने आरंभ में दो नाटकों की भी रचना की। नाटकों के नाम है, 'रुक्मिणी परिणय' तथा 'प्रद्युम्न विजय'। प्रारंभिक रचनाएँ होने के कारण ये नाटकीय दृष्टि से अधिक सफल नहीं कही जा सकतीं। भाषा की क्लिष्टता तथा कथोपकथनों की लम्बाई से यह नाटक दुरूह बन गये हैं।

श्री अम्बिका दत्त व्यास ने कई नाटक लिखे हैं। आपके नाटकों में से 'कलियुग और घी,' 'गो संकट,' 'भारत सौभाग्य,' 'ललिता,' 'मन की उमंग' तथा 'देवपुरुष' दृश्य नाटक प्रमुख हैं। नाटकीय दृष्टि से इनमें से किसी नाटक को सफल और प्रभावपूर्ण नहीं कहा जा सकता। नाटकों की भाषा भी दुरूह और अस्वाभाविक है।

श्री किशोरी लाल जी ने 'चौपट चपेट' तथा 'मयंक मंजरी' नामक दो नाटक लिखे हैं इनमें से प्रथम प्रहसन तथा द्वितीय शृंगार प्रधान रचना है। ये दोनों नाटक साधारण कोटि के हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु काल में कई लेखकों ने नाटकों की रचना की जिनमें मौलिक, अनुवादित, ऐतिहासिक तथा प्रहसन आदि सभी प्रकार की नाट्य रचनाएँ मिलती हैं। इस समय के अधिकांश नाटक संस्कृत की नाट्यप्रणाली पर आधारित हैं और इसी कारण उनमें मंगलाचरण, प्रस्तावना, नांदीपाठ तथा भरतवाक्य आदि मिलते हैं। इन नाटकों के संबंध में यह उल्लेखनीय है कि धीरे धीरे धार्मिक रचनाओं की अपेक्षा नाटककारों का ध्यान सामाजिक कथानकों को लेकर नाट्यरचना करने की ओर अग्रसर होता दिखायी देता है। चरित्र चित्रण और कथानक

की शिथिलता इस समय के अधिकांश नाटकों में दृष्टिगोचर होती है। इन नाटकों में गद्य की भाषा खड़ीबोली और पद्य की ब्रजभाषा है।

भारतेन्दु के बाद भी अनुवादित नाटकों की संख्या बढ़ती गई। इस समय के अनुवादों में बँगला, अंग्रेजी तथा संस्कृत से अनुवादित नाटक मिलते हैं। बँगला से 'एई की सभ्यता' का 'क्या इसी को सभ्यता कहते हैं' नामक अनुवाद श्री ब्रजनाथ शर्मा ने किया। इसके अतिरिक्त रवीन्द्र के 'चिरकुमार सभा', 'राजरानी,' 'चित्रांगदा' आदि का हिन्दी में पं० रूपनारायण पाण्डे ने सुन्दर अनुवाद किया।

इस युग में कई अंग्रेजी नाटकों का अनुवाद किया गया जिनमें से श्री तोताराम द्वारा एडीसन के Cato का "कैटो वृत्तान्त" सुन्दर अनुवाद है। शेक्सपियर के 'मर्चेंट आफ़ वेनिस' का कई लेखकों ने अनुवाद किया। इसके अतिरिक्त श्री गोपीनाथ ने 'ऐज़ यू लाइक इट' तथा 'रोमियो एण्ड जूलियट', श्री रतनचन्द्र ने कामेडी आफ़ एरर्स', श्री मथुरा प्रसाद ने 'मैकबेथ', तथा श्री बद्रीनारायण ने 'किंगलियर' का अनुवाद किया।

लाला सीताराम ने कई संस्कृत नाटकों के अनुवाद किये जिनमें से 'उत्तर राम चरित,' 'मालती माधव,' महावीर चरित,' मालविकाग्नि-मित्र,' 'मृच्छ-कटिक' तथा 'नागानन्द' नामक कृतियों के अनुवाद उल्लेख-नीय हैं।

इस युग के मौलिक नाटकों में से मिश्रबन्धु का 'नेत्रोन्मीलन' प्रमुख नाटक है। रायदेवी प्रसाद पूर्ण ने 'चन्द्रकला' और 'भानुकुमार' नामक नाटक लिखे। इनके अतिरिक्त मैथिलीशरण गुप्त का 'चन्द्रदास', पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी का 'मधुर मिलन' तथा श्री माखन लाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन युद्ध' आदि उल्लेखनीय नाटक हैं।

प्रसाद और तत्कालीन नाट्यसाहित्य

भारतेन्दु के बाद हिन्दी नाट्यसाहित्य में प्रसाद का नाम आता है। उनकी प्रखर प्रतिभा, उच्च कल्पना और सुन्दर भाषा के कारण उनके नाटक, साहित्य की अमूल्य निधि हैं। आरंभ में प्रसाद जी ने चार

एकांकी नाटक लिखे—'सज्जन', 'कल्याणी-परिणय', 'करुणालय' और 'प्रायश्चित'। इसके बाद प्रसाद जी का प्रतिवर्ष एक नाटक प्रकाशित होता गया। 'राज्यश्री' नाटक बाद में एक अंक और बढ़ाकर प्रकाशित किया गया। प्रसाद जी की अन्य नाट्यरचनाओं में अधिकांश ऐतिहासिक नाटक हैं। आपकी अन्य नाट्यरचनाएँ—'विशाख', 'अजातशत्रु', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'कामना', 'चन्द्रगुप्त', 'स्कंदगुप्त', 'विक्रमादित्य', 'एक घूँट' और अंतिम नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' है। प्रसाद जी के इन तेरह नाटकों में से आठ नाटक ऐतिहासिक, तीन पौराणिक और दो भावात्मक हैं।

प्रसाद के नटकों के सम्बंध में डा० सोमनाथ गुप्त लिखते हैं,—"प्रसाद ने इतिहास की खोज के आधार पर तत्कालीन युगों के प्रतिनिधि राजाओं और व्यक्तियों को लेकर अपने नाटकों की कथावस्तु का निर्माण किया है। यद्यपि, ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा हिन्दी में नयी नहीं थी, परन्तु प्रसाद ने उसमें खोजपूर्ण सामग्री का प्रयोग कर अपनी कल्पना से ऐसी परिस्थिति-योजनाओं का निर्माण किया है जो एकदम नयी हैं। साहित्य के लिए यह उनकी मौलिक देन है।"

यह सत्य है कि प्रसाद के अधिकांश नाटक ऐतिहासिक हैं, किन्तु ऐतिहासिक नाटकों में भी उन्होंने अपनी कल्पना से कई अन्य पात्रों के चरित्र प्रस्तुत किये हैं। इस सम्बंध में डा० सोमनाथ गुप्त के ये शब्द उल्लेखनीय हैं,—"यह धारणा बना लेना उचित नहीं है कि प्रसाद ने इतिहास को छोड़कर किसी अन्य तत्व की सहायता नहीं ली। सत्य घटनाओं की कठोरता को कोमल बनाने में पात्रों के ऐतिहासिक चरित्रों को मानवता का परिधान देने के लिए और नाट्यकला प्रदर्शन की उत्कृष्टता दिखाने के लिए उन्होंने अपनी कल्पना का समुचित प्रयोग किया है।

यहाँ पर प्रसाद के नाटकों की विशेषताओं का उल्लेख कर देना आवश्यक है। इस सम्बंध में सर्वप्रथम उल्लेखनीय बात यह है कि प्रसाद ने जहाँ एक ओर भारतीय नाट्यशास्त्र की परिपाटी का अनुकरण किया

है, वहाँ उनके नाटकों में पश्चिमी सिद्धांतों का भी समावेश मिलता है। इसके अतिरिक्त हमें प्रसाद के भावुक कवि हृदय और उनकी दार्शनिक विचार-धारा की स्पष्ट छाप नाटकों में मिलती है। उनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का अधिक प्रयोग मिलता है और इसी कारण कहीं-कहीं वह दुरूह जान पड़ती है। ऐतिहासिक नाटकों में गौरवमय अतीत का चित्रण करते हुए भी वह वर्तमान को न भूल सके। उनके नाटकों में उनकी भावुकता के साथ ही साथ उनके अध्ययन की गंभीरता और उनकी दार्शनिक विचारधारा के भी दर्शन होते हैं। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि उनके नाटकों में हमें प्राचीनता और नवीनता का सुन्दर समन्वय मिलता है। प्रसाद जी के ऐतिहासिक नाटकों के सम्बंध में डा० नगेन्द्र का यह कथन उल्लेखनीय है,—"प्रसाद का दृश्य विधान ही नहीं, उनके पात्रों के नाम, वेशभूषा, चरित्र और बातचीत सभी देश काल के अनुकूल हैं। इसके साथ ही साथ राष्ट्रीय भावना भी उनकी रचनाओं में प्रस्फुटित हुई है।

प्रसाद जी के अधिकांश नाटक सुखान्त हैं, किन्तु वह सुख, वेदना और पीड़ा से घिरा मिलता है। इस सम्बंध में प्रो० शिलीमुख का कथन है,—"प्रसाद की सुखान्त भावना प्रायः वैराग्यपूर्ण शान्ति होती है।" डा० नगेन्द्र के अनुसार,—"प्रसाद की ट्रेजिडी नारी ट्रेजिडी (Feminine tragedy) है...। सुखांत होते हुए भी वेदना और दुख का वातावरण प्रस्तुत करना उनके नाटकों की प्रमुख विशेषता है। इस सम्बंध में डा० नगेन्द्र अन्यत्र लिखते हैं,—"बौद्ध और आर्य दर्शन का संघर्ष और समन्वय वास्तव में दुखवाद और आनन्दमार्ग का ही संघर्ष और समन्वय है, जो उनके अपने अंतर की सबसे बड़ी समस्या थी।"

प्रसाद के नाटकों की उपयुक्त विशेषताओं के साथ ही साथ नाटकों के प्रमुख दोषों का भी उल्लेख कर देना आवश्यक है। इस सम्बंध में सर्वप्रथम अभिनेयता की दृष्टि से उनका कोई भी नाटक पूर्णरूप से सफल नहीं कहा जा सकता। रंगमंच पर युद्ध आदि का प्रदर्शन अत्यंत

कठिन है। इसके अतिरिक्त नाटकों की भाषा इतनी क्लिष्ट और कहीं-कहीं दार्शनिकता के कारण इतनी गंभीर हो गई है कि वह अभिनय के लिए सर्वथा अनुपयुक्त प्रतीत होती है। प्रसाद के नाटकों की कथावस्तु भी कहीं-कहीं शिथिल और अस्वाभाविक हो गई है। डा० नगेन्द्र के यह शब्द इस सम्बंध में उल्लेखनीय हैं—"वह न तो वास्तविकता की माँग पूरी करता है और न किसी आदर्श की पूर्ति। उसके पीछे भी सिद्धांत का नहीं, काव्य का आग्रह है।" यह सब होते हुए भी प्रसाद के नाटकों में हमें जिस नवीनता, मौलिक विचारधारा और गंभीर अध्ययन के दर्शन होते हैं वह अद्वितीय है। हिन्दी नाट्यसाहित्य में प्रसाद की रचनाओं का महत्वपूर्ण स्थान है, यह निर्विवाद सत्य है।

प्रसादोत्तर नाट्य साहित्य

प्रसादोत्तर नाटककारों में से सर्वश्री राय देवीप्रसाद पूर्ण, मैथिली शरण गुप्त, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, मिश्रबंधु, सत्यनारायण, प्रेमचन्द, बद्रीनाथ भट्ट, जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द, तथा विश्वंभरनाथ कौशिक उल्लेखनीय हैं।

राय देवी प्रसाद पूर्ण मुख्यतः कवि थे। खड़ी बोली तथा ब्रजभाषा में आपने उच्चकोटि की काव्य-रचना की है। आपने सं० १९६० के लगभग 'चन्द्रकला-भानुकुमार' नाम से एक नाटक लिखा। इस मौलिक नाटक में राजकुमार और राजकुमारियों का चरित्र-चित्रण प्रस्तुत किया गया है। इस नाटक में लेखक ने ब्रजभाषा की सुन्दर और सरस कविताओं का समावेश किया है। नाटक की कथावस्तु, कथोपकथन तथा वर्ण-शैली के कारण इस नाटक को अभिनेय नहीं कहा जा सकता।

श्री मैथिलीशरण गुप्त की ख्याति कवि रूप में ही है। आपकी काव्य रचनाओं की अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। नाटकों में आपने पौराणिक आधार पर 'चन्द्रहास,' नामक एक मौलिक नाटक की रचना की है। इसके अतिरिक्त आपने बँगला से 'तिलोत्तमा' तथा संस्कृत से 'स्वप्न-वासवदत्ता' का अनुवाद भी किया है। यह दोनों अनुवाद सुन्दर और और सफल हैं।

श्री जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी का हिन्दी के हास्य लेखकों में प्रमुख स्थान है। आपने लगभग १५-१६ पुस्तकों की रचना की हैं जिनमें से 'मधुरमिलन' और 'तुलसीदास' आपके प्रसिद्ध नाटक हैं। प्रथम नाटक में हास्य की सुन्दर सामग्री प्रस्तुत की गई है। 'तुलसीदास' नाटक गोस्वामी जी के जीवन पर आधारित है। भाषा और भाव की दृष्टि से यह दोनों ही सफल रचनाएँ हैं।

मिश्र बन्धुओं ने लगभग तीन दर्जन पुस्तकों की रचना की है। इनमें से कुछ संपादित ग्रंथ हैं और शेष उनकी मौलिक रचनाएँ हैं। मौलिक रचनाओं में चार नाटक हैं—'नेत्रोन्मीलन', 'पूर्वभारत,' 'उत्तरभारत' और 'शिवाजी'। भाषा और कथानक की दृष्टि से ये सफल रचनाएँ हैं।

सत्यनारायण जी 'कविरत्न' ब्रजभाषा के उच्चकोटि के कवि थे। नाटकों में आपने भवभूति के 'उत्तररामचरित' तथा 'महावीरचरित' का अनुवाद किया है। आपके यह अनुवाद अत्यंत सुन्दर सरस, तथा सफल हैं। विशेषकर श्लोकों का ब्रजभाषा में अनेक सुन्दर छंदों में अनुवाद किया गया है।

उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द की ख्याति उनकी तीन सौ कहानियों और उपन्यासों पर आधारित है। यद्यपि आपने तीन मौलिक नाटक भी लिखे, किन्तु नाटककार के रूप में आपको अधिक सफलता न मिल सकी। आपके मौलिक नाटक 'संग्राम,' 'कर्बला' और 'प्रेम की वेदी' हैं। इन नाटकों का आकार इतना अधिक है कि पढ़ने के अतिरिक्त अभिनय के लिए अनुपयुक्त हैं। प्रेमचन्दजी ने हिंदुस्तानी एकेडमी, प्रयाग के लिए कुछ अंग्रेजी नाटकों का अनुवाद भी किया जिनमें से 'जस्टिस' का 'न्याय,' 'स्ट्राइक' का 'हड़ताल' और 'सिलवर बाक्स' का 'चाँदी की डिबिया' नाम से अनुवाद हुआ है।

श्री बद्रीनाथ भट्ट ने कई नाटकों की रचना की है जिनमें से 'कुरु-वनदहन,' 'चुंगी की उम्मीदवारी,' 'चन्द्रगुप्त,' 'गोस्वामी तुलसीदास,' 'बेन चरित्र,' 'दुर्गावती,' 'लबड़धोंधों,' 'विवाह विज्ञापन' और 'मिस अमेरिकन'

नामक नाटक उल्लेखनीय हैं। भट्ट जी के इन नाटकों में से कई हास्य प्रधान रचनाएँ हैं, किन्तु उनमें अधिक सजीवता और प्रभावोत्पादकता नहीं है। 'दुर्गावती' आपकी सर्वोत्तम नाट्यरचना है।

श्री जगन्नाथ प्रसाद मिलिंद की कविताएँ सुविख्यात हैं। आपने ऐतिहासिक आधार पर 'प्रताप-प्रतिज्ञा' नाटक की रचना की है। नाटक-कार के रूप में अपनी इसी एक रचना से आपने प्रमुखता प्राप्त की है। कथावस्तु, चरित्र-चित्रण तथा भाषा और वर्णन-शैली सभी दृष्टियों से यह उत्तम और सफल रचना है।

श्री विश्वंभर नाथ जी कौशिक के कई उपन्यास और कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। नाटकों में महाभारत के भीष्म पितामह के चरित्र को लेकर आपने भीष्म नाटक लिखा है। यह नाटक सभी दृष्टियों से सफल है।

आधुनिक युग के नाटक

आधुनिक युग के नाटककारों में सेठ गोविंददास, उदयशंकर भट्ट, लक्ष्मीनारायण मिश्र, हरीकृष्ण 'प्रेमी,' उपेन्द्रनाथ 'अश्क,' बेचन शर्मा पांडेय 'उग्र,' माखनलाल चतुर्वेदी, वृन्दावनलाल वर्मा, जी० पी० श्रीवास्तव, रामनरेश त्रिपाठी, चतुरसेन शास्त्री, पृथ्वीनाथ शर्मा, रूपनारायण पांडेय तथा गोविंद वल्लभ पंत ख्यातिप्राप्त नाटककारों में से हैं।

सेठ गोविंददास ने कई सुन्दर नाटकों की रचना की है। श्री व्रज-रत्नदास ने अपनी पुस्तक में उनके लिखे 'कर्त्तव्य,' 'हर्ष,' 'प्रकाश' और 'कुलीनता' का ही उल्लेख किया है, किन्तु इन नाटकों के अतिरिक्त 'स्पर्धा,' 'सेवापथ,' 'विकास' और 'शशिगुप्त' नाटक भी प्रकाशित हो चुके हैं। सेठ जी के इन नाटकों में से 'स्पर्धा' सर्वोत्तम रचना है। आपके एकांकी नाटकों के दो संग्रह 'सप्त राश्मि' तथा 'पंचभूत' के नाम से प्रकाशित हुए हैं। हिन्दी के नाटककारों में आपका प्रमुख स्थान है।

श्री उदयशंकर भट्ट ने पौराणिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक तीनों प्रकार के नाटकों की रचना की है। आपके नाटकों में से 'विक्रमादित्य,' 'दाहर,' 'अंबा,' 'सगर विजय,' 'अंतहीन अंत,' 'मत्स्यगंधा,' 'विश्वमित्र,'

'कमला' और 'राधा' नामक रचनाओं के नाम उल्लेखनीय हैं। 'विश्व-मित्र,' 'कमला' और 'राधा' गीति-नाट्य हैं। भट्ट जी की इन कृतियों में से उनके पौराणिक नाटकों का विशेष महत्व है।

श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र हिन्दी के समस्या प्रधान सामाजिक नाटकों के जनक कहे जा सकते हैं। आपके लिखे कई नाटक प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें सांस्कृतिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक तीनों प्रकार की रचनाएँ हैं। आपके नाटकों में से 'अशोक', 'संन्यासी', 'राक्षस का मंदिर', 'मुक्ति का रहस्य', 'राजयोग', 'सिन्दूर की होली', 'आधी रात', गरुड़ध्वज', 'नारद की वीणा', 'वत्सराज' तथा 'दशाश्वमेध' प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त 'प्रलय के पंख पर' तथा 'अशोक वन' नामक दो एकांकी संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं। आपने इब्सन के दो नाटकों का हिन्दी में 'गुड़िया का घर' तथा 'समाज के स्तंभ' नाम से अनुवाद भी किया है। मिश्र जी के समस्या प्रधान नाटकों का हिन्दी में महत्वपूर्ण स्थान है।

श्री हरीकृष्ण 'प्रेमी' की पौराणिक तथा राष्ट्रीय-भावना से ओत-प्रोत नाट्य रचनाएँ अत्यंत प्रसिद्ध हैं। आपकी रचनाओं में से 'स्वर्ण-विहान', 'स्वप्नभंग', 'आहुति', 'रक्षा-बंधन', 'शिवा साधना', प्रतिशोध', 'पाताल विजय', 'छाया', 'बंधन' तथा 'मंदिर' प्रख्यात नाटक हैं। 'स्वर्ण-विहान' गीति नाट्य है जिसमें लेखक की राष्ट्रीय भावनाओं का सुन्दर प्रकाशन हुआ है। आपके उपर्युक्त नाटकों में से 'रक्षाबंधन' ने अत्यधिक ख्याति प्राप्त की है।

श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' लिखित नाटकों में से—'जय पराजय' तथा 'स्वर्ग की झलक' उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। प्रथम नाटक ऐतिहासिक आधार पर लिखा गया है और दूसरा सामाजिक नाटक है। लेखक को इन दोनों नाटकों के लिखने में पर्याप्त सफलता मिली है। आपके नाटकों में पात्रों के चरित्र का विकास अत्यंत स्वाभाविक रूप में होता है। आपके कई एकांकी संग्रह तथा उपन्यास आदि भी प्रकाशित हो चुके हैं।

श्री बेचन शर्मा पांडेय 'उग्र' हिन्दी में अपनी अनोखी वर्णन-शैली

तथा कथानक की यथार्थता के कारण अत्यंत प्रसिद्ध हैं। आपने कई पुस्तकें लिखी हैं जिनमें से 'महात्मा ईसा', 'चार बेचारे', 'डिक्टेटर', 'गंगा का बेटा', और 'आवारा' आपकी नाट्य रचनाएँ हैं। प्रथम को छोड़ कर अन्य सभी नाटक सामाजिक हैं। 'उग्र' जी यथार्थ और वास्तविक चित्रण प्रस्तुत करने के समर्थक हैं। आपकी रोचक वर्णन-शैली और स्वाभाविक चित्रण सभी कृतियों में समान रूप से मिलता है।

श्री माखनलाल चतुर्वेदी की रचनाओं में आपका देश-प्रेम सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। आपकी रचनाओं में से 'कृष्णार्जुन युद्ध' सफल नाटक है।

श्री वृन्दावनलाल वर्मा की प्रसिद्धि उनकी ऐतिहासिक रचनाओं से है। आपने कई उपन्यास, कहानियाँ और नाटक लिखे हैं जिनमें से अधिकतर ऐतिहासिक रचनाएँ है। आपके नाटकों में से 'फूलों की बोली', 'बाँस की फाँस', 'राखी की लाज', 'काश्मीर का काँटा', 'पीले हाथ', 'लो भाई पंचों लो', हंस मयूर' तथा 'रानी लक्ष्मीबाई' उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त 'धीरे-धीरे', 'मङ्गल मोहन', 'जहाँदारशाह', 'सगुन' तथा 'टँटागुर' नामक रचनाएँ अभी अप्रकाशित हैं। ऐतिहासिक लेखकों में वर्मा जी सिद्धहस्त हैं।

श्री जी० पी० श्रीवास्तव की समस्त रचनाएँ हास्य प्रधान हैं। हिन्दी में व्यंग्य और प्रहसनों का नितांत अभाव है अतः श्रीवास्तव जी की इन रचनाओं का विशेष स्थान है। आपने कई मौलिक तथा स्वतंत्र रूप से अनुवादित नाटकों की रचना की है। आपके मौलिक नाटकों में से 'साहित्य का सपूत', 'मरदानी औरत', 'गड़बड़झाला', 'जैसी करनी वैसी भरनी', 'भूल चूक', 'दुमदार आदमी', 'नोक झोंक, 'उलटफेर' आदि प्रमुख हैं। आपने फ्रेंच साहित्य के प्रसिद्ध हास्य-लेखक मोलियर के कई नाटकों का अनुवाद किया है। रचनाओं की भाषा सरल और चलताऊ होने के कारण आपकी रचनाएँ सर्व साधारण के लिए उपयोगी बन गई हैं।

श्री रामनरेश त्रिपाठी के नाटकों में उनकी राष्ट्रीय भावनाओं का प्रकाशन मिलता है। आपने 'सुभद्रा', 'जयंत', 'प्रेमलोक', 'पेखन' और

'वफ़ाती चाचा' नामक नाटक लिखे हैं। यद्यपि नाटकीय दृष्टि से इन्हें उच्च-कोटि का नाटक नहीं कहा जा सकता, किन्तु सरल और स्वाभाविक भाषा में यह नाटक रोचक और पठनीय हैं।

श्री चतुरसेन शास्त्री लिखित लगभग ६० पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें कहानी संग्रह, उपन्यास तथा नाटक आदि सभी प्रकार की रचनाएँ हैं। आप के नाटकों में से 'अमर राठौर', उत्सर्ग', 'सीताराम' तथा 'श्री राम' नामक रचनाएँ हैं। प्रथम दो नाटक ऐतिहासिक आधार पर लिखे गए हैं।

श्री पृथ्वीनाथ शर्मा लिखित तीन नाटक प्रकाशित हुए हैं–'दुविधा' 'अपराधी' और 'शराबी'। कथावस्तु, चरित्र-चित्रण तथा भाषा-शैली की दृष्टि से यह सफल नाटक हैं। अभिनय की दृष्टि से भी यह उपयुक्त हैं।

श्री रूप नारायण पांडे ने बंगला के कई सुन्दर नाटकों का हिन्दी में सफल अनुवाद किया है। आपकी अनुवादित रचनाओं में से गिरीश बाबू का 'पतिव्रता', क्षीरोद प्रसाद विद्या-विनोद का 'खान जहाँ', रवि बाबू का 'अचलापतन' और द्विजेन्द्रलाल राय के 'उस पार', 'शाहजहाँ', दुर्गादास, चन्द्र गुप्त' और 'ताराबाई' आदि अनुवाद सफल हैं।

श्री गोविंद वल्लभ पंत का हिन्दी नाटककारों में प्रमुख स्थान है। आपने 'वरमाला', 'राजमुकुट', 'अंगूर की बेटी' और 'अंत:पुर का छिद्र' नामक नाटक लिखे हैं। आप के सभी नाटक अत्यंत रोचकऔर सफल हैं।

आधुनिक नाटककारों की विचारधारा और उनके यथार्थवादी चित्रण पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक विषयों पर रचित कृतियों में वास्तविक रूप प्रस्तुत करने के इस प्रयास में पाश्चात्य साहित्य का बहुत कुछ प्रभाव है। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत और बीसवीं शताब्दी के आरंभ में शेक्सपियर के रोमांटिक नाटकों के विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारंभ हो गई थी। हिन्दी में भी इसका प्रभाव पड़ा और लेखकों का ध्यान भावुक और आदर्श चित्रण से हट कर वास्तविक चित्रण की ओर गया। अंग्रेजी साहित्य में इब्सन और शा के नाटक इस विचारधारा का प्रतिनिधित्व

करते हैं। हिन्दी के नाटककारों में सर्वश्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', उदयशंकर भट्ट तथा पृथ्वीनाथ शर्मा के नाटक इसी विचारधारा से प्रभावित मिलते हैं। यहाँ संक्षेप में इब्सन की विचारधारा की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कर देना आवश्यक है। इब्सन के नाटकों में हमें निम्न बातें प्रमुख रूप से मिलती है—

१. नाटकों में आपसी द्वेष और संघर्ष की अपेक्षा समाज के प्रति विद्रोह की भावना।

२. नाटकों के पात्र ऐतिहासिक पौराणिक अथवा काल्पनिक न होकर समाज के साधारण व्यक्ति हैं और इन्हीं की समस्याओं का नाटकों में चित्रण मिलता है।

३. नाटकों में पात्रों के मानसिक संघर्ष का चित्रण मिलता है और उनकी चारित्रिक विभिन्नता को मनोवैज्ञानिक शैली में प्रस्तुत किया गया है।

४. नाटकों में स्वगत कथनों को अस्वाभाविक समझ कर उनका प्रयोग नहीं किया गया है। इनकी अपेक्षा नाटकीय निर्देश सविस्तार मिलते हैं। इसके अतिरिक्त नाटकों को अभिनेय बनाने का विशेष प्रयास किया गया।

इब्सन और शा की इस विचारधारा का हिन्दी नाटकों पर भी यथेष्ट प्रभाव पड़ा और इसी कारण आधुनिक युग के अधिकांश नाटकों में हमें इसी 'टेकनीक' और वर्णन-शैली के दर्शन होते हैं।

नाट्य रूपक

हिन्दी में कुछ इने-गिने नाट्य रूपक अथवा प्रतीकवादी नाटकों की भी रचना हुई है। इस प्रकार के नाटक संस्कृत में भी रचे गए जिनमें से 'प्रबोध चन्द्रोदय' सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त केशव का 'विज्ञान गीता' और देव का 'देवमाया' प्रपञ्च' इसी कोटि की रचनाएँ हैं। नाट्य रूपकों में हमारे हृदय की प्रवृतियाँ पात्रों का रूप धारण कर लेती हैं।

अंग्रेजी साहित्य में इस प्रकार के नाटकों को Allegory कहते है।

अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक स्पेन्सर की रचनाओं में से 'फयरी क्वीन' तथा 'पिलिग्रिम्स प्रोग्रेस' इस प्रकार की प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

हिन्दी में इस प्रकार की रचनाओं में से प्रसाद कृत 'कामना,' मिश्र बन्धु कृत 'नवरस', पंत कृत 'ज्योत्सना' तथा भगवती प्रसाद बाजपेयी कृत 'छलना' प्रमुख रचनाएँ हैं।

गीत नाट्य—संस्कृत में 'कर्पूरमंजरी,' 'विक्रमोर्वशी' तथा 'मालविकाग्निमित्र' आदि प्रमुख गीत अथवा भाव नाट्य हैं। इसे पद्य बद्ध नाटक भी कहा जा सकता हैं। अंग्रेजी साहित्य में इस प्रकार के (Lyrical Dramas) पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। इस प्रकार के रचनाकारों में शैली ब्राउनिंग तथा स्विनबर्ग आदि के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। बँगला में रवीन्द्रकृत 'चित्रा' तथा द्विजेन्द्र कृत 'सीता' इसी प्रकार की सफल रचनाएँ हैं।

हिन्दी में इस प्रकार की रचनाएँ बहुत कम संख्या में मिलती हैं। इस श्रेणी की उल्लेखनीय रचनाओं में से प्रसाद कृत 'करुणालय', मैथिलीशरण गुप्त रचित 'अनघ,' हरीकृष्ण 'प्रेमी' कृत 'स्वर्णविहान' तथा उदयशंकर भट्ट लिखित 'विश्वामित्र,' 'मत्स्यगंधा' तथा 'राधा' नामक रचनाएँ हैं। हिन्दी के भाव नाटकों में से भारतेन्दु रचित 'चन्द्रावली' अच्छी रचना है। इस प्रकार की अन्य रचनाओं में से गोविंद वल्लभ पंत लिखित 'वरमाला' और 'अंतः पुर का छिद्र,' उदयशंकर भट्ट कृत 'अंबा' और मुरारीशरण मांगलिक रचित 'मीरा' नामक रचनाएँ उल्लेखनीय हैं।

एकांकी नाटक

हिन्दी में एकांकी नाटकों की रचना अधिक प्राचीन नहीं है। इस सम्बंध में डा० नगेन्द्र का कथन है,—"हिन्दी एकांकी का इतिहास गत दस वर्षों में सिमटा हुआ है।" डा० एस० पी० खत्री ने अपनी पुस्तक 'नाटक की परख' में हिन्दी के एकांकी नाटकों के सम्बंध में लिखा है—"एकांकी अंग्रेजी साहित्य की देन है।...कुछ आलोचक एकांकी का उद्गम संस्कृत साहित्य से मानते हैं, परन्तु एकांकी लेखन जब बीसवीं शताब्दी में शुरू हुआ तो स्पष्ट है कि उस पर अंग्रेज़ी का प्रभाव है, न कि संस्कृत का। इसके

विपरीत डा० सत्येन्द्र एकांकी परम्परा का आरंभ भारतेन्दु से मानते हैं। श्री रामनाथ 'सुमन' का मत है कि प्रसाद का 'एक घूँट' नामक नाटक हिन्दी का प्रथम एकांकी नाटक है। डा० रामकुमार वर्मा के एकांकी संग्रह 'चारुमित्रा' की भूमिका में आपने वर्मा जी को हिन्दी एकांकियों का जनक माना है।

एकांकी नाटक के सम्बंध में यह कहना अधिक ठीक होगा कि बड़े नाटक की तुलना में वही अंतर है जो कि उपन्यास और कहानी में। उसमें किसी एक लघु विषय को लेकर थोड़े से पात्रों द्वारा नाटक की रचना की जाती है। आधुनिक युग में अभिनय आदि की दृष्टि से बड़े नाटकों की अपेक्षा एकांकी नाटक अधिक सफल समझे जाते हैं।

आधुनिक युग के एकांकी नाटकों में सर्वप्रथम प्रसाद कृत 'एक घूँट' का उल्लेख किया जाता है। प्रसाद का यह नाटक यद्यपि नाटकीय दृष्टि से अधिक सफल और दोषरहित नहीं कहा जा सकता, किन्तु हिन्दी के एकांकी नाटकों का प्रारंभ यहीं से माना गया है। यद्यपि आधुनिक अर्थ में श्री भुवनेश्वर का 'कारवाँ' (सन् १९३५) प्रथम एकांकी ठहरता है। आधुनिक एकांकी नाटककारों में से डा० रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ 'अश्क,' सेठ गोविन्ददास, लक्ष्मीनारायण मिश्र, भुवनेश्वर, हरिकृष्ण 'प्रेमी,' भगवती चरण वर्मा, गणेशप्रसाद द्विवेदी, विष्णु प्रभाकर तथा जगदीश चन्द्र माथुर प्रमुख हैं।

डा० रामकुमार वर्मा के कई एकांकी प्रकाशित हो चुके हैं जिनके नाम है—'पृथ्वीराज की आँखें,' 'रेशमी टाई,' 'चारुमित्रा,' 'विभूति' 'सप्तकिरण,' 'रूपरङ्ग,' 'शिवाजी', 'कौमुदी महोत्सव' आदि। आपके यह एकांकी नाटक कथा वस्तु, चरित्र चित्रण तथा अभिनेयता की दृष्टि से अपना विशेष महत्व रखते हैं। अधिकांश नाटकों का आधार सामाजिक है जिसमें पात्रों के चारित्रिक द्वंद्व का चित्रण करने में आप विशेष रूप से सफल हुए हैं।

श्री उदयशङ्कर भट्ट लिखित 'समस्या का अंत,' 'अभिनव एकांकी,' 'स्त्री का हृदय,' 'चार एकांकी नाटक,' 'अस्तोदय' आदि एकांकी संग्रह प्रकाशित हुए हैं। भट्ट जी के यह नाटक सफल और प्रभावपूर्ण हैं।

श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के एकांकी नाटकों में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है और इस कारण उनकी रचनाएँ स्वाभाविक होने के साथ ही साथ अत्यंत रोचक हैं। आपके लिखे 'देवताओं की छाया में,' 'तूफ़ान से पहले' तथा 'चरवाहे' शीर्षक एकांकी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

सेठ गोविंद दास रचित 'सप्तरश्मि,' 'एकादशी,' 'पंचभूत' तथा 'अष्टदल' नामक एकांकी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें संगृहीत नाटकों में ऐतिहासिक, सामाजिक तथा राजनैतिक तीनों प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं।

आधुनिक एकांकी नाटककारों में श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र का प्रमुख स्थान है। आपके दो एकांकी संग्रह 'प्रलय के पंख पर' तथा 'अशोक वन' प्रकाशित हो चुके हैं। आपके एकांकी नाटकों में ऐतिहासिक तथा सामाजिक दोनों ही प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं। स्वाभाविक वर्णन-शैली के कारण आपके सामाजिक एकांकी अत्यंत सफल तथा प्रभावपूर्ण हैं।

पश्चिमी नाट्य-कला से प्रभावित नाटककारों में श्री भुवनेश्वर सफल नाटककार हैं। आपने इब्सन और शा के प्रभाव को स्वयं स्वीकार किया है। आपका 'कारवाँ' नामक एकांकी संग्रह अत्यंत प्रसिद्ध है। इसमें संगृहीत एकांकी नाटक सफल और प्रभावोत्पादक हैं।

श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' कृत 'मंदिर' एकांकी संग्रह है जिसमें उनके सात एकांकी नाटक संगृहीत हैं। यद्यपि नाटकीय दृष्टि से यह उच्चकोटि के नहीं कहे जा सकते, किन्तु सरल भाषा और स्वाभाविक चित्रण के कारण यह रोचक और प्रभावपूर्ण हैं।

श्री भगवती चरण वर्मा ने 'संसार का सबसे बड़ा आदमी,' 'दो कलाकार' तथा 'मैं केवल मैं' आदि एकांकी नाटक लिखे हैं। अभिनय की दृष्टि से आपकी ये रचनाएँ सफल हैं।

श्री गणेश प्रसाद द्विवेदी रचित 'सोहाग बिन्दी' एकांकी-संग्रह प्रकाशित हो चुका है। इस संग्रह के एकांकियों में पात्रों की मानसिक स्थिति का अत्यंत रोचक और सफल चित्रण प्रस्तुत किया गया है। आपके अधिकांश नाटक सामाजिक समस्याओं पर आधारित हैं।

श्री विष्णु प्रभाकर का 'इंसान और अन्य एकांकी' शीर्षक एक संग्रह प्रकाशित हुआ है। इस संग्रह के नाटक सुन्दर और सफल हैं।

श्री जगदीश चन्द्र माथुर रचित दो संग्रह 'भोर का तारा' तथा 'रीढ़ की हड्डी' शीर्षक प्रकाशित हो चुके हैं। इन नाटकों के कथानक ऐतिहासिक और सामाजिक दोनों प्रकार के ही हैं। आपके समस्त एकांकी अभिनेय हैं अतः उनका विशेष महत्व है।

उपर्युक्त एकांकी रचनाओं के अतिरिक्त श्री शंभूदयाल सक्सेना का 'वल्कल', सद्गुरुशरण अवस्थी के 'दो एकांकी', श्री सत्येन्द्र रचित 'कुणाल' श्री द्वारिका प्रसाद का 'आदमी', श्री जैनेन्द्र कृत 'टकराहट' तथा श्री अज्ञेय कृत 'चित्र वर्मा' आदि उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

रेडियो नाटक

रेडियो द्वारा प्रसारित नाटक भी एकांकी के ही एक रूप हैं। रेडियो नाटकों की सफलता पात्रों के कथनों पर ही आधारित है। श्रोता केवल रेडियो द्वारा सुन सकते हैं, अतः पात्रों को अपने वाचिक अभिनय द्वारा ही नाटक को सजीव बनाना पड़ता है। मोटर तथा रेल आदि का चलना, नदी का बहना तथा अन्य इसी प्रकार की ध्वनियाँ रेडियो नाटकों में रेकार्ड द्वारा प्रसारित की जाती हैं। यद्यपि इन नाटकों में कथोपकथन के बीच बीच में उद्घोषक द्वारा 'नेरेशेन' प्रस्तुत किया जाता है, किन्तु नाटककार की सफलता इसी में है कि वह पात्रों के आपस के कथोपकथनों द्वारा ही समस्त कथानक को स्पष्ट कर दे।

रङ्गमंच के अभाव में रेडियो नाटकों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। वर्तमान समय में वह लोकप्रिय भी हो रहे हैं। हिन्दी के नाटककारों में से कुछ ही नाटककार रेडियो के उपयुक्त नाटक रचने में सफल हो सके हैं और आवश्यकता इस बात की है कि रेडियो के लिए सुन्दर और कलात्मक नाटकों की ओर उचित ध्यान दिया जाय। रेडियो नाटक लेखकों में से सर्व श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', अमृतलाल नागर, भगवती

चरण वर्मा, डा० रामकुमार वर्मा, उदयशङ्कर भट्ट, विष्णु प्रभाकर, गिरिजा कुमार माथुर, प्रभाकर माचवे तथा भारत भूषण अग्रवाल प्रमुख हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी का नाट्य साहित्य सभी दृष्टियों से संपन्न है। नाटकों के सम्बंध सबसे अधिक बाधा उनके अभिनय की है। सिनेमा के प्रचार के कारण नाटकों का उपयोग केवल पढ़ने मात्र तक ही सीमित रह गया है। आजकल अधिकतर के कुरुचिपूर्ण, अश्लील और वासनाजनक चल-चित्रों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि यदि सुन्दर और कलात्मक नाटकों का सफल अभिनय किया जा सके तो वह जनसाधारण का मनोरंजन करने के साथ ही साथ अधिक उपयोगी सिद्ध होंगे। भारतवर्ष में रंगमंच की कोई व्यवस्था नहीं है। यह प्रसन्नता की बात है कि नाटकों की उपयोगिता और उसकी कला से प्रभावित होकर प्रसिद्ध कलाकार श्री पृथ्वीराज कपूर ने इस ओर ध्यान दिया है और 'पृथ्वी थियेटर्स' के नाम से एक संस्था स्थापित की है। इस संस्था द्वारा अब तक कई नाटकों का सफल और प्रभावपूर्ण अभिनय किया जा चुका है।

नाटकों का रंगमंच पर सुन्दर और सफल अभिनय होने में दो कठिनाई मुख्य रूप से सामने आती हैं—एक तो रंगमंच का अभाव और दूसरे लेखकों का रङ्गमञ्च सम्बंधी अल्प ज्ञान। हिन्दी के नाटकों में से बहुत थोड़े ही नाटक अभिनय की दृष्टि से पूर्णतया सफल कहे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त नाटक-लेखकों और अभिनय करने वाली संस्थाओं के बीच कोई ऐसा सम्बंध नहीं है जिससे अभिनय के लिए कलात्मक और सफल नाटक चुने जा सकें। रंगमंच के सम्बंध में हमारा मत है कि इसकी स्थापना जनता और सरकार के सहयोग से की जा सकती है। केन्द्रीय सरकार की ओर से 'संगीत नाटक एकेडमी' की स्थापना हुई है। हमें आशा है कि इस एकेडमी के प्रयत्नों से भारतीय रंगमंच की स्थापना के साथ ही इस दिशा में सफलता प्राप्त होगी। हिन्दी के नाटकों के विकास और उनकी लोकप्रियता के लिए यह नितांत आवश्यक है कि उनका रंगमंच पर सफल और प्रभावपूर्ण अभिनय प्रस्तुत किया जाय।

नाटक्कार की जीवनी तथा कृतित्व

नाटककार की जीवनी तथा कृतित्व

ज़ीवनी

श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र का जन्म सन् १६०३ में आजमगढ़ जिले के बस्ती नामक ग्राम में हुआ। आपके पूर्वज अवध की नवाबी के आरम्भ में सेना में काम करते थे। कई गाँव उनके अधिकार में थे और एक छोटे राजा के समान वह प्रतिष्ठित थे। सन् १८५७ की राज्यक्रांति में उन्होंने बिहार तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश के जननायक कुँवर सिंह के साथ सहयोग किया। वह वीर और साहसी थे और इसी कारण जब कभी लगान का तकाज़ा हुआ तो उसका उत्तर उन्होंने अस्त्रों से दिया। ईस्ट इंडिया कंपनी के अधीन होने तक यही हाल चलता रहा। आजमगढ़ के गजेटियर में मिश्र जी के पूर्वजों के सम्बंध में लिखा है,—"They were warlike people. They used to build mudforts and hardly paid their tributes." अंत में मालगुजारी न देने के कारण कई गाँव नीलाम कर दिये गए। इतना ही नहीं, आपके परिवार वालों को भी गदर के दिनों में असाधारण कष्ट झेलने पड़े। इस सम्बंध में मिश्र जी का कथन है—

"मालगुजारी न देने की वजह से इलाका नीलाम हो गया। बद-अमनी (गदर) के दिनों में बाबू कुँवरसिंह अपनी सेना के साथ मेरे मकान के उत्तर में जो तालाब है, उस पर तीन दिन तक पड़े रहे। सेना का समस्त संभव व्यय मेरे पूर्वजों ने गाँव वालों की सहायता से उठाया, किन्तु इस शर्त का निर्वाह भी कुँवरसिंह के सैनिकों ने किया कि कोई सैनिक भूलकर भी गाँव के भीतर नहीं आ सकता। आजमगढ़ में कुँवरसिंह ने जो दर्बार किया था उसमें मेरे परदादा भी सम्मिलित हुए थे। गदर प्रायः दबाया जा चुका था। बागों में सूलियाँ टँगी थी और साँड़नी के ऊपर दोनों

हाथ और दोनों पैर एक में बाँधकर छह आदमी एक तरफ और छह आदमी दूसरी तरफ़ लटकाकर उन बागों में लाये जाते थे और कुछ क्षणों में ही अंग्रेज़ कलक्टर उन्हें फाँसी का हुक्म दे देता था। यों लोग फाँसी पर लटका दिये जाते थे। उन्हीं दिनों मेरे एक पूर्वज देहात के एक ज़बरदस्त मुसलमान का, जिसने राह चलते उनका अपमान किया था, घर लूटने में गिरफ़्तार करके साँड़नी में लटकाकर भेजे गये।"

ऐसे वीर, देश सेवी तथा संपन्न परिवार में जन्म लेने के कारण मिश्र जी के व्यक्तित्व और स्वभाव में इन गुणों का किसी न किसी रूप में समावेश होना स्वाभाविक ही है। आपके पिता का नाम पं० कमला प्रसाद मिश्र तथा माता का सहोदरा देवी था जो बलिया जिले की कन्या थीं। मिश्र जी के स्वभाव में स्पष्टवादिता और निर्भीकता के साथ ही साथ स्वाभिमान की जो उच्च भावना मिलती है उसका मूल कारण उनके पारिवारिक संस्कार ही हैं। आपकी बाल्यावस्था बड़े ही लाड़-प्यार और सुख से बीती। मिश्र जी उन दिनों के रहन-सहन के सम्बंध में कहते हैं—'शतरंज, घोड़े की सवारी और मांसाहार पिता जी के समय तक चलता रहा।' मिश्र जी अपने परिवार में एक मात्र बालक थे और पिछली तीन पीढ़ियों में दो भाइयों के बीच केवल एक ही संतान की परम्परा चलती आई थी। मिश्र जी की शिक्षा का प्रारम्भ ग्राम-पाठशाला से हुआ और फिर पड़ोस के स्कूल में पढ़कर सन् १९१८ में अपने वर्नाक्युलर-मिडिल स्कूल की परीक्षा १२ वर्ष की अवस्था में पास की। प्रथम कविता का श्री गणेश भी मिश्र जी ने १२ वर्ष की वय में ही किया। उसकी प्रथम दो पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"आकण्ठ सुरसरि नीर में सब मनुज थे यों सोहते।
मानो विमल आकाश में नक्षत्र थे मन मोहते।"

इस प्रकार गाँव के स्कूल से मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद आप अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त करने के विचार से प्रयाग आये, किन्तु दूसरे ही

वर्ष राष्ट्रीयता की लहर में सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल काशी चले गये और फिर वहीं से सन् १६२८ में बी० ए० किया।

मिश्र जी की रहन-सहन, विचारधारा और स्वभाव पर पारिवारिक संस्कारों की अमिट छाप पड़ी है। आपकी माता आस्तिक हिन्दू नारी थीं। उनके मुँह से सुनी हुई पौराणिक गाथाओं का आपकी विचारधारा पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। आपकी भारतीयता के प्रति अटूट निष्ठा और सांस्कृतिक जिज्ञासा का आरम्भ पुराणों की इन्हीं अलौकिक गाथाओं से हुआ। इसके अतिरिक्त मिश्र जी के स्वभाव की सबसे बड़ी विशेषता उनकी स्पष्टवादिता और विचारधारा में भारतीयता की अमिट छाप का मूलकारण भी उनके पारिवारिक संस्कार ही हैं।

सन् १६३५ में आपके एक मात्र अनुज की मृत्यु से आप पर जो वज्रपात हुआ उससे लगभग दस वर्ष तक आपकी लेखनी जड़ हो गई। कुछ ही समय बाद आपकी जीवन-संगिनी भी सदा के लिए विदा हो गई। जीवन की इस भयानक कटुता का आपके साहित्य-सृजन पर घातक प्रभाव पड़ा।

मिश्र जी राष्ट्रीय विचारधारा के प्रबल समर्थक हैं और यद्यपि देश के राष्ट्रीय आन्दोलन में आपने सक्रिय रूप से कोई भाग नहीं लिया, किन्तु सन् ४२-४३ के आन्दोलन में आप देशद्रोह के अपराध में गिरफ्तार कर लिये गए। जेल से मुक्त होने पर सन् १६४५ में आप पुनः सपरिवार प्रयाग आ गये और अब वहीं रहकर आप साहित्य-सेवा कर रहे हैं। आप अपनी इस जेल-यात्रा को जीवन के एक महान अनुभव के रूप में मानते हैं।

मिश्र जी के स्वभाव और विचारधारा की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। मृदुल होते हुए भी आप स्पष्ट वक्ता हैं। आपके पारिवारिक और सामाजिक जीवन में विशेष अंतर नहीं। सादगी और सरलता आपके व्यवहार में सदैव बनी रहती है। लेखक के रूप में इतनी ख्याति प्राप्त कर लेने पर भी किसी प्रकार का गर्व अथवा अभिमान आप में छू नहीं गया है।

इसके यह अर्थ नहीं कि आपको अपनी साहित्यिक कृतियों पर पूर्ण विश्वास और भरोसा न हो। आपके विचारों में भारतीयता की पूर्ण छाप मिलती है पुरातन भारतीय परंपराओं के आप परम पोषक हैं। देश की परंपराओं और मान्यताओं को त्याग कर कोई भी राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता, ऐसा आपका विश्वास है। मिश्र जी की विचारधारा की एक अन्य विशेषता उनका भाग्यवादी दृष्टिकोण है। यद्यपि कुछ पाठकों को यह कभी कभी आश्चर्यजनक और परस्पर विरोधी प्रतीत होता है कि एक ओर तो आप बुद्धिवादी विचारधारा का समर्थन करते हैं और दूसरी ओर जीवन के प्रति भाग्यवादी दृष्टिकोण रखते हैं, किन्तु इन दोनों में सामंजस्य स्थापित कर जीवन-यापन करना आपकी विशेषता है इसके अतिरिक्त आपके स्वभाव की एक अन्य विशेषता है आपका स्वाभिमान। हिन्दी के लेखकों और साहित्यकारों में कुछ ही ऐसे व्यक्ति हैं जो इतने स्वाभिमानी, निर्भीक और आत्मविश्वासी हों।

साहित्य-सृजन काल का आरम्भ

मिश्र जी का साहित्य की ओर झुकाव जब वह काशी में अध्ययन कर रहे थे उसी समय हुआ। उस समय आपकी वय १८ वर्ष के लगभग थी और आपके मित्रों में साहित्यिक-प्रवृत्ति के लोग अधिक थे। सन् १९२१-२२ में आपके साहित्यिकमित्रों में से डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पं० कमलापति त्रिपाठी, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' तथा श्री दुर्गा दत्त त्रिपाठी प्रमुख थे। जिस समय आप मैट्रिक के विद्यार्थी थे आप कभी कभी कविता की कुछ पंक्तियाँ करते थे। आपकी 'अतर्जगत' नामक काव्य-रचना उसी समय की है। इस सम्बंध में यह उल्लेखनीय है कि प्रसाद की प्रसिद्ध कृति 'आँसू' और पंत जी की 'उच्छ्वास' नामक रचना उसके बाद प्रकाशित हुई।

मिश्र जी की इस साहित्यिक अभिरुचि में काशी का वातावरण और मित्रों का सत्संग बहुत सहायक हुआ। विद्यार्थी जीवन में आपको कुछ ऐसा विश्वास था कि चन्द्रमा की ओर एकटक देखने से कवित्व शक्ति बढ़ती है और इसी विश्वास से आप रात्रि को देर तक चंद्रमा देखते

रहते थे। एक बार गर्मी की शाम को आप अपने कुछ मित्रों के साथ गाँव में नाले के समीप घूमने गये। वहाँ पर कुछ हड्डियाँ आदि बिखरी पड़ी थीं। अंधेरा छा रहा था और उस वातावरण में आपको आकाश में एक अकेला तारा दिखायी दिया। उसे देखते ही 'अंतर्जगत' की यह पंक्तियाँ निकलीं —

> "भूले हुए नखत से नभ में आकुल तिमिर किनारे।
> किस अनन्त को देख रहे थे, वे तेरे दृगतारे ॥"

'अंतर्जगत' के प्रकाशन के बाद आपने 'अशोक' नामक ऐतिहासिक नाटक की रचना की। इस सम्बंध में यह उल्लेखनीय है कि 'प्रसाद' जी का प्रसिद्ध नाटक 'चन्द्रगुप्त' मिश्र जी के 'अशोक' के बाद की रचना है। श्री ब्रज-रत्न दास ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी नाट्य साहित्य' में यह विचार प्रकट किया है कि मिश्र जी के 'अशोक' नाटक पर प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' की छाप है यह विचार पूर्णतया भ्रामक और असत्य है।

मिश्र जी की साहित्यिक कृतियों की कालक्रमानुसार सूची इस प्रकार है—

रचनाओं का कालक्रमानुसार सूची

रचना	वर्ष
अंतर्जगत (कविता संग्रह)	—१९२५
अशोक	—१९२६
संन्यासी	—१९३०
राक्षस का मंदिर	—१९३१
मुक्ति का रहस्य	—१९३२
राजयोग	—१९३३
सिन्दूर की होली	—१९३३
आधी रात	—१९३६
गरुड़ध्वज	—१९४५
नारद की वीणा	—१९४६
वत्सराज	—१९५०
दशाश्वमेध	—१९५०

अशोक वन (एकांकी संग्रह)—१९५०
वितस्ता की लहरें —१९५३
जगद्गुरु एवं मृत्युंजय —१९५८

'कवि भारतेन्दु' नामक रचना छप रही है। सेनापति कर्ण नामक आपका महाकाव्य जिसका आरम्भ सन् १९३५ में हुआ था अब भी पूरा नहीं हो पाया है। यह रचना आपकी १८ वर्ष की साधना है और ऐसी आशा है कि यह महाकाव्य हिन्दी साहित्य में अपने ढङ्ग की अनोखी रचना होगी। आपने इब्सन के दो प्रसिद्ध नाटक Pillars of the society' तथा 'Dolls House' का हिन्दी में 'समाज के स्तंभ' और 'गुड़िया का घर' नाम से अनुवाद भी किया है।

मिश्र जी की दो कृतियाँ 'अंतर्जगत' (काव्य-संग्रह) तथा 'अशोक' (ऐतिहासिक नाटक) विद्यार्थी-जीवन की रचनाएँ हैं। जब आप मैट्रिक के विद्यार्थी थे तो 'अंतर्जगत' काव्य-रचना प्रकाशित हुई और जब इंटरमीडिएट में थे तो 'अशोक' नाटक प्रकाशित हुआ। कुछ आलोचकों का यह मत कि 'अशोक' नाटक पर विशेषकर ब्राह्मण धर्मनाथ के चरित्र-चित्रण पर प्रसाद के नाटक 'चन्द्रगुप्त' की छाप है, निराधार है। मिश्र जी की यह नाट्य रचना प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' नामक नाटक से पूर्व ही प्रकाशित हो चुकी थी।

मिश्र जी के प्रकाशित मौलिक नाटकों की संख्या एक दर्जन से अधिक है। यह सभी नाटक किसी न किसी दृष्टि से अपनी नवीनता और प्रभावपूर्णता के कारण साहित्य जगत् में सम्मानित हो चुके हैं। आपने आकाशवाणी के लिए भी बड़ी संख्या में एकांकी नाटकों की रचना की जो समय समय पर आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों से प्रसारित होते रहे हैं। रेडियो नाटक लिखने में भी मिश्र जी को प्रशंसनीय सफलता मिली है।

मिश्र जी जिस प्रकार साहित्य-सृजन करते हैं, वह ढङ्ग भी उनका अपना है। इस सम्बंध में आपका कथन है—"मुझे नियमित रूप से लिखने की आदत नहीं। कभी कभी साल के साल बीत जाते हैं जब एक अक्षर भी नहीं लिख पाता। पर जब लिखने की प्रवृत्ति होती है तो फिर मैं

अपने वश में नहीं रहता। ऐसा लगता है कि जैसे किसी सम्मोहन के वशीभूत होकर मैं विवशता से लिख रहा हूँ। ऐसे समय में समूचा दिन और रात भी लिखने में बीतते जाते हैं और तब तक लिखता जाता हूँ जब तक कि शरीर जवाब न दे दे—एक प्रकार की मूर्छा सी न आ जाय। यही कारण है कि मेरे अधिकांश नाटकों की रचना इने-गिने दिनों की है जिसमें आहार से भी अरुचि रही या कभी कुछ आहार लिया भी तो ऐसा, जैसा लोग व्रत की स्थिति में लेते हैं। मैं लाइनदार कागज पर लिखना पसंद नहीं करता। सफेद बैंक पेपर पर फाउन्टेनपेन से लिखना मुझे अच्छा लगता है। लिखते समय सुरती और पान खाता हूँ। पहले भाँग पीने की भी आदत थी, पर अब नहीं है।"[1]

मिश्र जी के लिखने की एक अन्य विशेषता यह है कि एक बार जो कुछ लिख देते हैं फिर उसमें कोई संशोधन अथवा परिवर्तन नहीं करते। इस प्रकार लिखने वालों के लिए यह तो कहा ही जा सकता है कि उनका भाषा पर अच्छा अधिकार होना आवश्यक है। आपके प्रसिद्ध सामाजिक नाटक 'सिन्दूर की होली' को पढ़कर किसी विद्वान मित्र ने एक स्थल पर किसी शब्द को अशुद्ध बतलाते हुए उसमें संशोधन कर देने को कहा। इस पर आपने उत्तर दिया, "कभी कभी हम बोलने में भी तो अशुद्ध शब्द बोल जाते हैं। ऐसे ही यह पात्र भी बोल गया होगा, जो स्वाभाविक ही है। संशोधन की आवश्यकता मैं नहीं समझता।"

नाटकों के सम्बंध में लेखक का दृष्टिकोण

मिश्र जी ने पाश्चात्य नाट्य रचना के विधान को अपने नाटकों में स्थान दिया है किन्तु आपके नाटकों में भारतीय विचारधार और परंपरा समान रूप से विद्यमान मिलती है। मिश्र जी के नाटकों में अंग्रेजी के प्रसिद्ध नाटककार इब्सन और शा का स्पष्ट प्रभाव मिलता है। इन

१. देखिये श्री पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' कृत—"मैं इनसे मिला" प्रथम भाग, पृ० १४२

पाश्चात्य नाटककारों की प्रमुख विशेषता यह है कि इनके नाटकों में भावुकता और कल्पना के चित्रण के स्थान पर यथार्थ और वास्तविक चित्र प्रस्तुत किये गए हैं। सामाजिक कुरीतियों का वास्तविक और यथार्थ चित्रण इनके नाटकों की विशेषता है। मिश्र जी के अधिकांश नाटकों में सामाजिक समस्याओं को लेकर इसी प्रकार के चित्र प्रस्तुत किये गए हैं। नाट्यकला की प्राचीन पद्धति जिसके अनुसार नाटकों में काल्पनिक चित्रण, संगीत और भावुक स्थल होते थे, मिश्र जी के नाटकों में हमें नहीं मिलती।

मिश्र जी ने अंग्रेजी के प्रसिद्ध नाटकों का गहन अध्ययन किया और इसी कारण आपके सामाजिक नाटकों के बहिरंग पर उनका प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। आपने जब नाटक लिखना प्रारंभकिया उस समय बँगला के प्रतिष्ठित नाटककार द्विजेन्द्र लाल राय के नाटक अनुवाद के रूप में हिंदी पाठकों के लिए प्रस्तुत किये जा चुके थे और हिंदी के मौलिक नाटककारों में प्रसाद जी की अधिकांश कृतियाँ प्रतिष्ठा पा चुकी थीं। आपका कथन है, "प्रसाद के नाटकों की काव्यमयी भाषा नाटक के लिए अशुद्ध और असत्य है। वैसी भाषा में कभी कोई बोलता ही नहीं। स्वगत की बेरोक शब्दावली कुरुचिपूर्ण और भ्रामक है। मैं स्वगत की पद्धति को ही अशुद्ध मानता हूँ। पागल को छोड़कर कोई दूसरा ऐसा नहीं करता। जीवन में जिसका अस्तित्व नहीं वह साहित्य और कला में नहीं आना चाहिए। प्रसाद की आत्महत्याओं की शैली अभारतीय ही नहीं, इस देश में पाप भी मानी गई है। प्रसाद जी भारतीय दर्शन से सर्वथा दूर होने पर भी श्री नन्ददुलारे बाजपेयी आदि द्वारा भारतीय संस्कृति के उद्धारक बताये गये हैं। यह भ्रामक है। वास्तव में शेक्सपियर से डी० एल० राय और डी० एल० राय से प्रसाद; यह क्रम रहा है। प्रसाद के चरित्रों का निर्माण कल्पना की उड़ान में हुआ है—उस कल्पना की उड़ान में जो धरती के जीवों को भूल गई थी और बराबर निराकार रूप में आकाश को निहारा करती थी।"[1]

---

[1]श्री पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' लिखित 'मैं इनसे मिला' प्रथम भाग

इतना ही नहीं मिश्र जी का यह निश्चित मत है कि द्विजेन्द्र लाल राय पर अंग्रेजी नाटककार शेक्सपियर का भूत सवार हो गया था और इसी कारण उनके नाटकों में भारतीय दर्शन और संस्कृति की जान बूझकर उपेक्षा की गई है। आपका विचार है कि नाटकों में एक ओर तो हमें स्वाभाविक चित्रण और सामाजिक समस्याओं का यथार्थ रूप प्रस्तुत करना चाहिए और दूसरी ओर हमें अपनी संस्कृति, परंपरा तथा मान्यताओं का ध्यान रखना चाहिए। आपकी इस विचारधारा के ही कारण हमें आप के नाटकों में पात्रों का मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण तथा कथावस्तु में स्वाभाविकता मिलती है।

साहित्य का क्या उद्देश्य है इस सम्बंध में आपका विचार है,—"साहित्य और कला विचार व्यक्त करने के लिए नहीं हैं। साहित्य में जीवन का चित्र जीवन के लिए प्रस्तुत किया जाना चाहिए। जीवन के व्यापार जगत की यथार्थ अनुभूति में जैसे मिलते हैं उनका पुनर्निर्माण ही साहित्य और कला का ध्येय है। कवि, लेखक और साहित्यकार निर्माण नहीं करते। निर्माण का कार्य तो प्रकृति का है, जो बराबर बनते-बिगड़ते रहने से नश्वर हैं। प्रकृति के उसी निर्माण पर कवि या चित्रकार जब पुनर्निर्माण करता है तभी कला का जन्म होता है और यही पुनर्निर्माण अमर है।"

मिश्र जी ने विदेशी लेखकों का विस्तृत और गंभीर अध्ययन किया है। मिल्टन और शा की रचनाएँ आपको विशेष रूप से प्रिय हैं। आप यह स्वीकार करते हैं कि आपके नाटकों की बाह्य रूपरेखा पर इब्सन का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। भारतीय जीवन-दर्शन की झलक मिलने के कारण आप गेटे, नीत्शे और रोम्यारोलाँ की कृतियों से भी प्रभावित है। इन विदेशी लेखकों के अतिरिक्त संस्कृत साहित्य का भी आपने विस्तृत अध्ययन किया है। आपका कथन है, वाल्मीकि, व्यास और तुलसीदास के प्रति मेरी एकांत निष्ठा है। कालिदास और संस्कृत के प्रायः अन्य सभी कवि मुझे पसंद आते हैं।

यह निर्विवाद है कि वास्तविकता और यथार्थ का चित्रण करना

अत्यंत कठिन है। इस सम्बंध में सबसे बड़ी कठिनाई लेखक का निर्लिप्त होना है। जब तक कोई लेखक पूर्णतया निरपेक्ष भाव से किसी कथानक का विकास नहीं कर पाता, तब तक उसकी कृति प्रभावपूर्ण नहीं हो सकती। उसका ध्येय है सामाजिक विषमताओं का वास्तविक चित्र प्रस्तुत करना और इसके लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वह निर्लिप्त और निरपेक्ष भाव से चित्रण करे। मिश्र जी की प्रत्येक रचना में हमें यह विशेषता मिलती है। नारी और पुरुष की कोमल भावनाओं का वास्तविक चित्रण करने में आपको विशेष सफलता मिली है।

नाटकों की प्रेरणा, उनका आधार और वर्गीकरण

स्थूल रूप से मिश्र जी के नाटक दो प्रकार के हैं—सांस्कृतिक अथवा ऐतिहासिक और सामाजिक। आपके सांस्कृतिक तथा सामाजिक दोनों ही प्रकार के नाटकों में भारतीय संस्कृति और मान्यताओं की अमिट छाप मिलती है। आपके नाटकों का बहिरंग पाश्चात्य नाट्यविधान के अनुसार संगठित किया गया है और इसी कारण आपकी रचनाओं में गीत, स्वगत-कथन तथा भावुक स्थलों का अतिरंजित चित्रण नहीं मिलता। 'मुक्ति का रहस्य' नामक अपने सामाजिक नाटक में आपने अपनी विचारधारा और नाटकों के सम्बंध में अपने नवीन दृष्टिकोण का स्पष्ट और जोरदार शब्दों में प्रतिपादन किया है। एक स्थान पर आपने लिखा है, "जो यथार्थ नहीं है, वह आदर्श नहीं हो सकता। कल्पना की रंगीनी और असंगति, साहित्य और कला का मानदण्ड नहीं बन सकती। जीवन की पाठशाला में बैठकर साहित्यकार अपनी कला सीखता है। अतः जीवन के अनुभव से परे उसे कहीं कुछ भी नहीं ढूँढना चाहिए।"

मिश्र जी का अपने सामाजिक नाटकों के सम्बंध में विचार अन्य लेखकों से भिन्न है। सामाजिक नाटकों की प्रेरणा और उनके उद्देश्य के बारे में आपका कथन है, "समस्या नाटकों की रचना विवशता की देन है, उसी प्रकार जैसे प्रेम। दुनिया का रूप बदलने के लिए रचना नहीं होती बल्कि सामाजिक जीवन जिन कठिनाइयों और खड्डों से पार हो रहा है उन्हीं

में से एक या दो का रूप साहित्यकार खड़ा कर देता है। समस्या उठाना ही उसका काम है, समाधान प्रस्तुत करना नहीं। जो अभाव या जो परेशानी उसके भीतर होती है उसका चित्र भी वह खींचता है, पर अपने से स्वतंत्र होकर। मेरे नाटकों में यही दृष्टिकोण प्रमुख है।" इस कथन से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि मिश्र जी के विचार से सामाजिक समस्याओं का कोई निश्चित हल अथवा समाधान अपनी रचनाओं में प्रस्तुत करना किसी लेखक के लिए अनिवार्य नहीं है।

मिश्र जी के सामाजिक तथा ऐतिहासिक नाटकों का आधार क्या है और वह किस प्रकार नाटक की कथावस्तु संगठित करते हैं इस सम्बंध में आपके यह शब्द महत्वपूर्ण हैं, "जहाँ तक सामग्री अर्जित करने का प्रश्न है वहाँ तक ऐतिहासिक नाटकों के लिए तो इतिहास से सामग्री मिलती है। सम्बद्ध चरित्रों और घटनाओं का जमाना रहता है। सामाजिक नाटकों में यह होता है कि समस्या सामने आयी और उसकी प्रतिक्रिया हुई। उदाहरण के लिए 'सिन्दूर की होली' को लीजिए। एक सुधारवादी कांग्रेसी के यहाँ, जो अर्द्धशिक्षित थे पर समझते थे अपने को सर्वज्ञ, विधवा-विवाह पर बहस हुई। बहस समाप्त होने वाली वस्तु नहीं है। वहीं मैंने संकल्प किया कि इस समस्या पर एक नाटक लिखूँगा और 'सिन्दूर की होली' लिख गया। लेकिन ऐतिहासिक या सामाजिक कैसा भी नाटक हो, उसे मस्तिष्क में पकते वर्षों हो जाते हैं और जब वह स्वयं निकलना चाहता है, तब लिखा जाता है।"

यहाँ हमें संक्षेप में मिश्र जी के नाटकों के आधार और उद्देश्य पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। मिश्र जी के सामाजिक समस्या—प्रधान नाटकों में निम्न नाटक हैं—संन्यासी, राक्षस का मंदिर, मुक्ति का रहस्य, राजयोग तथा सिन्दूर की होली। इन समस्त नाटकों में किसी न किसी समस्या को लेकर नाटक का कलेवर रचा गया है। इसमें संदेह नहीं कि सभ्यता के विकास के साथ ही साथ हमारा जीवन जटिल होता गया। इसी कारण व्यक्ति और समाज का संघर्ष भी बढ़ता गया। आज हमारे

जीवन में जो विषमता और कटुता है उसका यथार्थ और वास्तविक चित्र प्रस्तुत करना ही लेखक का अभीष्ट है। नाटककार ने अपनी रचनाओं द्वारा इन्हीं सामाजिक समस्याओं के सफल और प्रभावपूर्ण चित्र प्रस्तुत किये हैं।

मिश्र जी का प्रथम सामाजिक नाटक 'संन्यासी' है। समाज में सह-शिक्षा और उससे उत्पन्न समस्याओं का इसमें समावेश किया गया है। 'राक्षस का मंदिर' में लेखक ने आधुनिक सामाजिक जीवन की विषमताओं को लेकर कथानक का संगठन किया है। इस नाटक में विशेष रूप से वेश्याओं की सामाजिक स्थिति और उनका वास्तविक स्वरूप प्रस्तुत करना नाटककार का अभीष्ट जान पड़ता है। 'मुक्ति का रहस्य' लेखक का सबसे प्रसिद्ध सामाजिक नाटक है। इस नाटक में नारी और पुरुष की चिरंतन काम-वासना का चित्रण किया गया है। 'राजयोग' नाटक में उस सभ्य सुशिक्षित सामाजिक जीवन की झाँकी प्रस्तुत की गई है, जहाँ मानसिक संकीर्णता के कारण संपूर्ण जीवन कलहमय हो जाता है। लेखक के प्रसिद्ध नाटक 'सिन्दूर की होली' में मुख्यतः नारी समस्या का चित्रण किया गया है। नारी के आंतरिक द्वंद्वों, प्रेम तथा विधवा-विवाह आदि का इस रचना में विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

आपके ऐतिहासिक नाटकों में से 'अशोक' सर्वप्रथम कृति है जिसकी रचना आपने विद्यार्थी जीवन में ही की थी। इस नाटक का कथानक विश्व विख्यात बौद्धधर्म प्रचारक अशोक के प्रारंभिक जीवन की कुछ मार्मिक घटनाओं को सँजोकर रचा गया है। ऐतिहासिक नाटकों की सामग्री इतिहास ग्रंथों से ही ली जाती है, किन्तु लेखक कहीं-कहीं अपनी कल्पना द्वारा पात्रों के चरित्र तथा घटना के प्रभाव को गति प्रदान करता है। इस नाटक में अशोक के सम्राट होने की अधिकारिक कथा के साथ ही ग्रीक राजवंश की कुमारी डायना के एन्टीपेटर नामक अज्ञात निर्धन युवक के प्रति प्रेम की प्रासंगिक कथा भी चलती है। 'गरुड़ध्वज' मिश्र जी का संस्कृति प्रधान ऐतिहासिक नाटक है। नाटक का कथानक उस युग से सम्बद्ध है जिसका

इतिहास अभी तक अधिकांशतः अंधकार में ही है। अपनी कल्पना द्वारा लेखक ने उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री का उपयोग कर शुंग वंश के इतिहास पर प्रकाश डाला है। प्रस्तुत नाटक में पुष्यमित्र शुंग के वंशज अग्निमित्र की कथा है। 'वत्सराज' मिश्र जी का प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक है। नाटक का कथानक उदयन की जीवन-घटनाओं से सम्बद्ध है। संस्कृति के नाटककारों में से भास और कालिदास आदि कई नाटककारों ने उदयन का चरित्र-चित्रण किया है। आधुनिक युग में प्रसाद जी ने 'अजातशत्रु' में उदयन का चरित्र भिन्न रूप से चित्रित किया है। मिश्र जी ने अपने इस नाटक में उदयन को संयमी, वीर और भारतीय संस्कृति तथा आश्रमधर्म के प्रतिपादक के रूप में चित्रित किया है। 'दशाश्वमेध' नाटक का आधार भारशिव नागों के इतिहास से सम्बद्ध है। प्रस्तुत नाटक इसी वंश-परंपरा के वीरसेन नायक के अद्वितीय पौरुष तथा पराक्रम की कथा पर आधारित है। 'नारद की वीणा' आर्य-आर्येतर संस्कृतियों के संघर्ष और समन्वय पर आधारित है। इस नाटक की रचना में लेखक का प्रमुख उद्देश्य यह रहा है कि कतिपय लेखकों द्वारा प्रतिपादित आर्यों की श्रेष्टता और द्रविड़ों की हीनता का वास्तविक चित्र उपस्थित किया जा सके। लेखक ने नाटक में यह दिखाया है कि किस प्रकार यहाँ के आर्येतर मूल निवासियों ने अपनी संस्कृति और सभ्यता द्वारा आर्यों की बर्बरता पर विजय प्राप्त की।

लेखक के एकांकी नाटकों की संख्या भी कम नहीं है जिनके दो संग्रह—'प्रलय के पंख पर' और 'अशोक वन' प्रकाशित हो चुके हैं। इन एकांकी नाटकों में भी अधिकांश नाटक समस्या प्रधान ही हैं। 'अशोक वन' तथा 'दशाश्वमेध' आदि नाटक पौराणिक तथा ऐतिहासिक रचनाएँ हैं। मिश्र जी ने अपने कई नाटकों की रचना नारी तथा काम-समस्या पर की है। नारी की स्थिति और पुरुष से उसके सम्बंध के साथ ही उसकी शिक्षा और स्वतंत्रता से उत्पन्न समस्याएँ तथा प्रेम और विधवा-विवाह आदि समस्याओं पर यह नाटक आधारित हैं। इसमें संदेह नहीं कि ज्यों-

ज्यों सभ्यता का विकास हुआ, नर और नारी का संपर्क बढ़ा, दोनों की भावुकता और उपभोग की इच्छा भी बढ़ी। समाज के प्रतिबन्ध इसमें बाधक सिद्ध हुए और इसी कारण व्यक्ति और समाज का संघर्ष बढ़ता गया। मिश्र जी के नाटकों में नारी की इन्हीं चिरंतन समस्याओं को उठाया गया है। आपका विचार है कि नारी की भावुकता और हृदय की कोमलता ही उसका सबसे बड़ा बंधन है। इसी कारण आपकी नारी बुद्धिवादी विचार-धारा का प्रतिपादन करती है।

प्रसाद और मिश्र जी की नाट्यकला के प्रमुख भेद

प्रसाद के नाटकों में हमें संस्कृत नाट्यविधान और आधुनिक नाटकों की विशेषताओं का सामंजस्य मिलता है। आपके अधिकांश नाटक ऐतिहासिक हैं जिनमें लेखक ने अपनी कल्पना द्वारा नाटकों के कथानक का निर्माण किया। प्रसाद भावुक और कवि हृदय थे और इसकी छाप उनके नाटकों में भी पड़े बिना न रह सकी। आपके नाटकों की भाषा तक पूर्णतया काव्यमय है। आपके पात्रों का आत्म-संतोष कर्त्तव्य के पालन में होता है और धार्मिक संस्कारों में वह जकड़े रहते हैं। प्रायश्चित द्वारा आत्म-संतोष प्राप्त करना आपके पात्रों की विशेषता है।

इसके विपरीत मिश्र जी के पात्र बुद्धि का सहारा लेकर समाज और जीवन की समस्याओं को हल करते हैं। आपके पात्रों में भी यद्यपि कहीं-कहीं भावुकता के दर्शन होते हैं, किन्तु अन्ततोगत्वा उस भावुकता पर बुद्धि की विजय होती है। आपके पात्र रूढ़िवादी और संस्कारों से जकड़े हुए न होकर स्वयं अपना मार्ग प्रशस्त करते हैं। कोरी कल्पना और आदर्श में भटकते रहना स्वयं अपने को धोखा देना है और इसी कारण मिश्र जी के पुरुष और नारी दोनों ही पात्र इस भावुकता और आदर्श के स्थान पर तर्क और बुद्धि का सहारा लेते हैं। इस सम्बंध में श्री जयनाथ नलिन का यह कथन महत्वपूर्ण है—"प्रसाद जिस प्रकार अतीत भारतीय गुण-गौरव के गायक हैं, प्रेमी मध्यकालीन सामन्ती युग के शौर्य और शक्ति के चितेरे

हैं, उसी प्रकार लक्ष्मी नारायण मिश्र वर्तमान की समस्याओं को सुलझाने का प्रयास करने वाले प्रथम विचारक हैं।"[1]

संक्षेप में हम प्रसाद और मिश्र जी के नाटकों की तुलना में यह कह सकते हैं कि जहाँ प्रसाद ने अपने नाटकों में भावुकता के वशीभूत होकर स्वगतकथन और गीत आदि का समावेश किया, कल्पना द्वारा पात्रों को आदर्शवादी और कर्त्तव्य-परायण चित्रित किया और धार्मिकता और संस्कारों में जकड़े हुए दिखाया, वहाँ मिश्र जी ने अपने नाटकों में आधुनिक विचार-धारा का समावेश कर पात्रों की भावुकता पर बुद्धि और तर्क की विजय प्रदर्शित की। आपके पात्र न तो कल्पना में उड़ते हैं और न भावावेश में बड़बड़ाते हैं। आपका विचार है कि नाटक में गीतों का समावेश मनोविज्ञान की दृष्टि से पूर्णतया अस्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त जहाँ प्रसाद के पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व आदर्शवादी है वहाँ मिश्र जी के पात्र यथार्थ और कटु वास्तविकता के परिणाम स्वरूप विकल दिखायी देते हैं।

मिश्र जी की नाट्य कला के सम्बंध में विद्वानों के विचार

मिश्र जी के नाटकों और नाट्यकला के सम्बंध में नाट्यसाहित्य की लगभग समस्त पुस्तकों में विद्वानों ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। इसके अतिरिक्त कतिपय आलोचनात्मक पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं में भी उनके नाटकों की आलोचनात्मक विवेचना प्रस्तुत की गई है। यहाँ संक्षेप में मिश्र जी की नाट्यकला के सम्बंध में विद्वानों के इन विचारों का उल्लेख कर दिया जाना आवश्यक जान पड़ता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में मिश्र जी की नाट्यकला के सम्बंध में लिखा है, "पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने नाटकों के द्वारा स्त्रियों की स्थिति आदि कुछ सामाजिक प्रश्न या समस्याएँ तो सामने रखी ही हैं, योरप में प्रवर्तित 'यथातथ्यवाद' का वह खरा रूप भी दिखाने का प्रयत्न किया है जिसमें झूठी भावुकता और मार्मिकता से

१. देखिये, श्री जयनाथ नलिन कृत 'हिन्दी नाटककार

चोला छुड़ाकर नर-प्रकृति अपने वास्तविक रूप में सामने लायी जाती है। ऐसे नाटकों का उद्देश्य होता है समाज अधिकतर जैसा है, वैसा ही सामने रखना, उसके भीतर की नाना विषमताओं से उत्पन्न प्रश्नों से जीता-जागता रूप खड़ा करना तथा यदि संभव हो तो समाधान के स्वरूप का भी आभास देना। लोक के बीच कभी कभी जो उच्च भावों के कुछ दृश्य दिखायी पड़ जाया करते है उन पर कल्पना का झूठा रंग चढ़ाकर धोखे की टट्टियाँ खड़ी करना और बहुत सी फालतू भावुकता जगाना अब बंद होना चाहिए, यही उपर्युक्त 'यथातथ्यवाद' का कहना है। नाटक का जो नया स्वरूप लक्ष्मीनारायण जी योरप से लाये हैं उसमें काव्यत्व का अवयव भरसक नहीं आने पाया है। उनके नाटकों में न चित्रमय भावुकता से लदे भाषण हैं, न गीत या कविताएँ। खरी खरी बात कहने का जोश कहीं कहीं अवश्य है।"[1]

डा० सोमनाथ गुप्त ने मिश्र जी के नाटकों और उनकी नाट्यकला की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है। सामाजिक नाटकों का उल्लेख करते हुए आपने लिखा है, "लक्ष्मी नारायण मिश्र के नाटकों का इस धारा में विशेष स्थान है। सामाजिक कुरीतियों और धार्मिक रूढ़ियों में सुधार की आवश्यकता पर भारतेन्दु काल के अनेक नाटककारों ने ध्यान दिया है परन्तु व्यक्ति की समस्याओं पर सबसे पहले मिश्र जी ने ही इतने उग्र रूप से लिखा है। मिश्र जी ने तर्क और बुद्धि को अपना अस्त्र बनाया है। वह समस्या की गहराई तक जाने का प्रयत्न करते हैं और वहीं से उसका कारण और समाधान खोजते हैं। उनका अस्त्र बुद्धि-विकास है और इसलिए उनके नाटकों की समस्याएँ व्यक्ति विशेष की समस्याएँ हैं, समस्त समाज की नहीं।"

आपने मिश्र जी की नारी भावना का उल्लेख करते हुए लिखा है,

---

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ६६७-६६८

"घटनाओं का विस्तार वह इस प्रकार करते हैं कि स्त्री के भीतर जो कुछ भी है—इच्छा, द्वेष, ईर्षा, प्रेम, वासना, त्याग, विवशता—और जिसके ऊपर बाह्य आचार और शील का आवरण चढ़ा हुआ है, वह अंत में प्रकट हो जाता है। नारी अपने अवांछित कर्मों को ढँकने के लिए जिन कर्मों द्वारा अपनी आत्म-शक्ति का ह्रास करती जाती है, उनका स्पष्टीकरण ही उसे अंत में संसार का सामना करने का साहस प्रदान करता है। उसका झुका हुआ सिर संसार के सामने उठता है। वही उसका व्यक्तित्व है जो जाग्रत होकर उसे आत्म-संतोष देता है और समस्याओं को सुलझाने में समर्थ होता है। उसके संस्कारों पर बुद्धिवाद की विजय होती है। लेखक के मतानुसार यह रूढ़िवाद के प्रति प्रतिक्रिया है और इसके प्रसार में ही हमारे समाज का कल्याण है। उसी में भारत की भावी उन्नति का बीज वर्तमान है।"[1]

श्री जयनाथ नलिन ने मिश्र जी की नाट्कला के सम्बंध में लिखा है, "मिश्र जी की नाट्यकला हिन्दी में नया प्रयोग है। प्रसाद और प्रेमी आदि कलाकारों ने विदेशी कला के स्वस्थ अंग को अपनाया है। उन्होंने भारतीय और पश्चिमी कला का सुन्दर स्वाभाविक और स्वस्थ सामंजस्य करते हुए भी प्रमुखता भारतीय नाट्य कला को ही दी। मिश्र जी ने भारतीय कला को सर्वथा त्यागकर पश्चिमी कला को अपनाया है। इनके नाटकों का अंक विभाजन, कथानक, चरित्र चित्रण सभी पश्चिमी नाटककारों से प्रभावित है।" मिश्र जी के समस्या प्रधान नाटकों का उल्लेख करते हुए आपने लिखा है, "हिन्दी में वर्तमान समाज के यथार्थ जीवन की उलझन भरी समस्याओं को लेकर नाटक लिखने का सर्वप्रथम श्रेय लक्ष्मीनारायण मिश्र को है। मिश्र जी ने हिन्दी नाटकों में एक नवीन विचार-पद्धति को जन्म दिया है। 'टेकनिक' भी आपने नवीन दिया है और भावु-

१ देखिये, डा० सोमनाथ गुप्त लिखित-हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २१७ तथा २४६-२४८

कता से बहुत कुछ पीछा छुड़ाकर नाटक-साहित्य को विचार-प्राधान्य की ओर मोड़ा।......राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं के साथ ही अपने नाटकों में मिश्र जी ने जीवन की अन्य छोटी छोटी बातें भी चित्रित कर दी हैं। वे छोटी होते हुए भी समाज की आवश्यक और बुनियादी समस्याएँ हैं जिन पर समाज का भवन खड़ा है। उनका हल न किया गया तो यह भवन लड़खड़ाकर गिर जायगा। समाज के इस घुन को नाटकों में दिखाया गया है जो धीरे-धीरे हमारे जीवन का स्वास्थ्य छलनी कर रहा है।"[1]

श्री कृष्णशंकर शुक्ल ने मिश्र जी के सम्बंध में लिखा है, "आपके पिछले नाटकों में स्वाभाविकता का अधिक ध्यान रखा गया है। पिछले नाटकों में स्वगत इत्यादि अस्वाभाविक प्रवृत्तियाँ भी छोड़ दी गई हैं। सामाजिक नाटक लिखने में आपको अच्छी सफलता मिली है।" आपने मिश्र जी के ऐतिहासिक नाटक 'अशोक' के सम्बंध में लिखा है, 'अशोक' नाटक का धर्मनाथ, प्रसाद जी के 'चन्द्रगुप्त' नाटक के चाणक्य की भद्दी नकल है।"[2] संभवतः आप को यह ज्ञात नहीं कि मिश्र जी का 'अशोक' प्रसाद जी के 'चन्द्रगुप्त' से पहिले की रचना है, अतः धर्मनाथ के चरित्र चित्रण में नकल का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

उपाध्याय वेदमित्र 'व्रती' ने मिश्र जी की नाट्यकला के सम्बंध में लिखा है, "वर्तमान नाट्य साहित्यकारों में मिश्र जी का अपना एक प्रमुख स्थान है। मिश्र जी के नाटक आज के भारतीय मानव समाज और उसकी वर्तमान वासना-सम्बंधी स्थिति को लेकर चलते हैं। भारतीय नारी की चिरंतन समस्या और देश पर लदा हुआ अध्यात्मवाद, ये दोनों वस्तुएँ नाटककार के मस्तिष्क को टोंचती हैं। बस, यही व्यापक स्थिति उनके नाटकों का एक प्रमुख विषय बन जाती है। वह निजी बुद्धिवाद से चिरंतन

१. देखिये, श्री जयनाथ नलिन कृत 'हिन्दी नाटककार'

२. देखिये, कृष्ण शंकर शुक्ल कृत 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ३४३-३४४

वासना को बगला-भक्तों की भाँति फटकार नहीं सके।.....उनके नाटक जिस व्यवहारिक प्रेम का आदर्श और प्राचीन सामाजिक निर्बलता को चित्रित करने के लिए प्रस्तुत हुए हैं उनमें उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। हाँ, यत्र-तत्र प्रांतीय प्रयोग तथा लिंग-भेद की अशुद्धियाँ नाटकों की शोभा को हानि पहुँचाती हैं। साथ ही बुरी तरह से अंग्रजी शब्दों और वाक्यों तक का प्रयोग तो साधारण पाठकों के लिए लेखक की अनुचित चेष्टा ही सिद्ध होगा। फिर भी उनके सफल चित्रण और किसी समस्या को गंभीर बुद्धि से हल करने वाली योग्यता के सामने यह सब बातें साधारण सी वस्तु रह जाती हैं। संशय और संदेह की स्थिति में पड़े अपने पात्रों को वे किस प्रकार मार्ग देते हैं, यह भी एक कलाकार का कौशल माना जायगा। अतः हम समझते हैं कि मिश्र जी के नाटकों में एक असाधारण कलाकार की प्रतिभा का दर्शन मिलता है। इसीलिए यह कह सकते हैं कि इस युग के समस्यात्मक नाटककारों में उनका स्थान बहुत ऊँचा है। जिस प्रमुख समस्या को लेकर वे जिस संयम बुद्धि से चले हैं वह भी उनके यश का प्रतीक है।"[1]

श्री रामप्रताप त्रिपाठी ने मिश्र जी की नाट्यकला के सम्बंध में लिखा है,—"यह निर्विवाद सत्य है कि मिश्र जी ने हिन्दी साहित्य को एक नया दृष्टिकोण दिया है। साहित्य के एक विशिष्ट अंग की पूर्ति करते हुए प्रगति की ही ओर वे बढ़ते जा रहे हैं। इधर पिछले तीन-चार वर्षों में उन्होंने जिन नाटकों की रचना की है, यद्यपि वे पूर्व के नाटकों की अपेक्षा बहुत ऊँचे नहीं उठ सके हैं, तथापि उनसे यह सिद्ध होता है कि भारतीय संस्कृति के प्रति उनमें अगाध श्रद्धा है। प्राचीन मान्यताओं के वे पुजारी हैं। प्रसाद के ऐतिहासिक पात्रों की भाँति उन्होंने भी कुछ व्यक्तियों का निर्माण किया है, किन्तु उनमें विशुद्ध हिन्दू संस्कृति की रक्षा हुई है। कतिपय आलोचकों

१. देखिये, उपाध्याय वेद मिश्र व्रती कृत 'रूपक विकास',
पृष्ठ १२० से १२४,

का मत तो यहाँ तक है कि मिश्र जी का दृष्टिकोण उदार नहीं है, पर हमें तो यही कहना उचित जान पड़ता है कि वे हिन्दू संस्कृति के पक्के समर्थक हैं। उससे विपरीत उन्हें कोई भी भावधारा प्रभावित नहीं कर पाती।"[1]

मिश्र जी की नाट्य कला के सम्बंध में विद्वानों के उपर्युक्त विचारों के अतिरिक्त आपके कुछ नाटकों की भूमिका में भी कुछ महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किये गए हैं। 'राजयोग' नाटक की भूमिका में डा॰ अमरनाथ झा ने आपके सम्बंध में लिखा है, "प्रस्तुत नाटक 'राजयोग' के लेखक आधुनिक विषयों का समावेश अपनी पुस्तकों में करते हैं। किसी को अधिकार नहीं है कि इसके कारण पुस्तक की अवहेलना करे।...मेरे विचार में योग्य लेखक ने बहुत अंशों में सफलता प्राप्त की है।"

आपके एक अन्य नाटक 'सिन्दूर की होली' की भूमिका में डा॰ रामप्रसाद त्रिपाठी ने लिखा है "प्रस्तुत नाटक रचयिता श्री लक्ष्मीनारायण जी भी इब्सन, बरनर्डशा आदि प्रमुख नाटककारों के विचारों और भावनाओं से प्रेरित होकर हिन्दी नाट्य साहित्य में नवीन धारा का प्रचार करने की चेष्टा कर रहे हैं।...नाटक साहित्य में वह युग-प्रवर्तन करना चाहते हैं, एतदर्थ हम उनका स्वागत करते हैं।"

विद्वानों के उपर्युक्त विचार से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि हिन्दी में समस्यात्मक नाटकों के जनक होने का श्रेय मिश्र जी को ही है। आपकी रचनाओं में नवीनता के साथ ही साथ यथार्थ का जो सफल चित्रण मिलता है वह प्रभावोत्पादक है। सांस्कृतिक नाटकों में भारतीय संस्कृति, विचारधारा और परंपरा का चित्रण करने में आपको पूरी सफलता मिली है। निस्संदेह हिन्दी के नाट्य साहित्य में प्रसाद के बाद लक्ष्मीनारायण मिश्र का नाम सर्व प्रमुख है।

साहित्यकार के रूप में मिश्र जी का जितना सम्मान होना चाहिए

१. देखिये, श्री रामप्रताप त्रिपाठी लिखित 'हिंदी के पाँच नाटक', पृ० १०५।

वह अभी तक नहीं हो पाया है। कुछ भी हो मिश्र जी की इन रचनाओं की विशेषता हमेशा के लिए अमर है और कभी न कभी उसका उचित मूल्यांकन किया ही जायगा। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सैंतीसवें अधिवेशन में (हैदराबाद अधिवेशन) आप हिन्दी साहित्य परिषद् के सभापति निर्वाचित किये जा चुके हैं। गाँधी अभिनन्दन ग्रंथ की सभी अंग्रेजी कविताओं के अनुवादक आप ही थे। आपकी अनेक रचनाएँ विश्वविद्यालय की ऊँची कक्षाओं और सम्मेलन की परीक्षाओं में स्वीकृत हैं। 'कवि भारतेन्दु' और 'सेनापति कर्ण' नामक महाकाव्य आपकी यह दोनों ही रचनाएँ शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली हैं। मिश्र जी से अभी हिन्दी साहित्य को बड़ी आशाएँ हैं।

आलोचना

१. सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक नाटक

ऐतिहासिक नाटक

ऐतिहासिक नाटकों में लेखक इतिहास के अध्ययन और मनन द्वारा नाटक के कथानक की रचना करता है। प्रसाद युग तक हिन्दी नाटकों का विकास ऐतिहासिक तथा पौराणिक नाटकों में ही मिलता है। आधुनिक युग के ऐतिहासिक नाटककारों में मिश्र जी का प्रमुख स्थान है। मिश्र जी ने मौर्य, गुप्त तथा शुंग वंश के इतिहास की शृंखलाओं की कड़ियों को ऐतिहासिक तथ्य, अपनी कल्पना और अनुभूति में सँजोकर देश के गौरव-शाली अतीत का चित्रण किया है। सांस्कृतिक नाटकों में मिश्र जी का 'नारद की वीणा' नाटक प्रमुख है जिसमें लेखक ने आर्यों-आर्येतरों के संघर्ष और समन्वय का सर्वथा नवीन और मौलिक चित्र उपस्थित किया है। यहाँ हम संक्षेप में लेखक के ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक नाटकों की कथावस्तु और चरित्र-चित्रण की आलोचना प्रस्तुत करते हैं।

अशोक

ऐतिहासिक नाटकों में मिश्र जी का यह नाटक उनके विद्यार्थी जीवन की रचना है। लेखक ने नाटक की कथावस्तु सुप्रसिद्ध सम्राट अशोक के जीवनवृत्त को लेकर निर्मित की है।

कथानक—विश्वविख्यात बौद्ध-धर्म प्रचारक अशोक के प्रारम्भिक जीवन की मार्मिक घटनाओं को सँजोकर नाटक का कथानक रचा गया है। बिन्दुसार का जीवन कितना कल्मषपूर्ण था इसका परिचय प्रस्तुत नाटक में मिलता है। पुत्र के अहित के लिए स्वयं पिता किन निम्न साधनों का उपयोग कर सकता है इसकी झलक इस नाटक में आद्योपान्त मिलती है।

प्रारम्भ से ही अशोक एक निर्वासित राजकुमार के रूप में हमारे

सामने आता है जो पश्चिमोत्तर प्रदेश में विद्रोह दबाने के लिए अकेले भेज दिया जाता है। ब्राह्मण धर्मनाथ, अशोक का सेनापति बनकर समस्त इन्द्रप्रस्थ के सामन्तों को विदेशी आक्रमण के विरोध में संगठित करता है।

अशोक के सम्राट होने की आधिकारिक कथा के साथ ही ग्रीक राजवंश की कुमारी डायना के एन्टीपेटर नामक अज्ञात निर्धन युवक के प्रति प्रेम की प्रासंगिक कथा भी चलती है। एन्टीपेटर, एन्टीओकस द्वारा पालित है और वह डायना का शिक्षक है। यहीं से दोनों एक दूसरे से प्रेम करने लगते हैं। एक दिन एन्टीपेटर को डायना का चुंबन करते देख उसे देश से निकल जाने की आज्ञा दी जाती है। यहाँ से घटना में संघर्ष प्रारंभ हो जाता है। अशोक की सिंह से रक्षा कर ऐन्टीपेटर उसकी सेना का सेनापति बनता है और अन्त समय तक डायना से प्रेम के साथ ही अशोक के प्रति अपना कर्त्तव्य पालन करता रहता है। कलिंग के राजकुमार के तीर से घायल होकर उसकी मृत्यु होती है। अंत समय डायना का मिलन तथा एन्टीओकस द्वारा क्षमायचना कर नाटक की प्रासंगिक कथा समाप्त होती है।

बिन्दुसार पंचनद में अशोक के बढ़ते हुए प्रभाव को देख उससे द्वेष करता है और उसे विद्रोह दबाने के लिए उज्जैन भेजता है। धर्मनाथ एक कूटनीतिज्ञ ब्राह्मण है जो सदैव अशोक की रक्षा के लिए तत्पर रहता है। वह बिन्दुसार से मिलकर उज्जैन जाने की आज्ञा प्राप्त करता है। दूसरी ओर बिन्दुसार उज्जैन के सेनापति को षड़यंत्र से अशोक को मारने की सलाह देता है। इसी बीच बिन्दुसार का पुराना मंत्री चन्द्रसेन पदत्याग देता है और भवगुप्त द्वारा रक्षित होकर अशोक से मिलता है। भवगुप्त अशोक का बड़ा भाई है और वह समस्त न्यायोचित बातों का समर्थन करता है। उसकी पत्नी विमला महत्त्वाकांक्षिणी है, किन्तु वह उसकी उपेक्षा कर राज्याधिकार की ओर विशेष चिंतित नहीं दिखायी देता और अन्त में संन्यास ले लेता है।

धर्मनाथ राज-विस्तार की आकांक्षा से प्रेरित होकर कलिंग से युद्ध

करता है। जयन्त की पराजय होती है; उसका पिता सर्वदत्त पहिले से ही विराग ले लेता है और उसकी पुत्री माया बन्दिनी होती है। धर्मनाथ का बड़प्पन खुलता है और जब इन नीच कुकर्मों का पता अशोक को लगता है तो वह बहुत लज्जित होता है। आत्म-ग्लानि से धर्मनाथ आत्म-हत्या करता है। नाटक की यहीं चरम सीमा है। अन्त में भवगुप्त के पुत्र अरुण के साथ माया का विवाह होता है।

कथोपकथन—नाटक के कथोपकथनों की भाषा स्वाभाविक होने के साथ ही साथ सरल तथा मुहावरेदार है। उन स्थलों को छोड़कर जहाँ पात्र भावुकता के प्रवाह में बह जाते हैं, अन्य कथन छोटे तथा गठे हुए हैं। नाटक में हास्य तथा व्यंग्य के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। दो, एक स्थान पर नाटकीय व्यंग्य का सुन्दर प्रयोग किया गया है। एन्टीओकस तथा उसके मंत्री का यह वार्तालाप हास्य का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है—

मंत्री—"हाँ कारण है, मैं एक शुभ समाचार लेकर आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। मैं इस आनन्द को कुछ समय सँभाल भी न सका यहाँ तक कि मुझे यहाँ आना पड़ा।"

एन्टीओकस—"तब, यदि आप उसके बोझ से दबे जा रहे है तो कह दीजिए—अन्यथा मुझे डर है कि कहीं आप भूमिका भी न समाप्त कर पायें और बीच में ही मारे बोझ के गिर पड़े।"

मंत्री—"आप के जो हाथ रण-क्षेत्र में शत्रुओं का संहार करते हैं, मुझे न सम्हाल सकेंगे।"

एन्टीओकस—"मेरे हाथ तो अवश्य सम्हाल सकते हैं, लेकिन उन पर केवल आप ही का बोझ तो पड़ेगा ही नहीं। जिस भार से आप दबे जा रहे हैं, आपके साथ वह भार भी तो मेरे हाथो पड़ेगा।"[1]

नाटकीय व्यंग्य का एक अन्य उदाहरण धर्मनाथ के इस कथन से

१. 'अशोक', पृष्ठ ६.

मिलता है, "आज अशोक का अभिषेक है। बिन्दुसार के जीते जी अशोक को राजा बनाया, इसी में धर्म का कल्याण था। सफलता की यही प्रथम किरण है। क्या कभी इसका पूर्ण प्रकाश होगा? होगा—और अवश्य होगा—अन्यथा यह विद्रोही इतनी सफलता से क्यों मानते[1]" लेखक के इस नाटक में एक-दो गीतों का भी समावेश किया गया है। गीतों की कुछ पंक्तियाँ अत्यन्त सुन्दर और वातावरण के अनुकूल होने के कारण प्रभावपूर्ण हैं।

पात्र तथा चरित्र-चित्रण—प्रस्तुत नाटक के पात्रों में से धर्मनाथ तथा अशोक मुख्य पात्र हैं। नारी पात्रों में ग्रीक युवती डायना तथा अशोक की पत्नी देवी प्रमुख हैं। अतः हम इन्हीं पात्रों के चारित्रिक विकास का विवेचन करेंगे।

धर्मनाथ—धर्मनाथ का चरित्र एक कूटनीतिज्ञ का चरित्र है। वह आद्योपान्त अशोक की सहायता तो करता है पर राजनीति के चक्कर में इतना गिर जाता है कि अमानुषिक व्यवहार से भी उसे हिचक नहीं होती। धर्म स्थापना की आड़ में वह उचित-अनुचित, सब कुछ करने को तत्पर रहता है। ब्राह्मणत्व की श्रेष्ठता का उसे गर्व है और इस सम्बंध में वह अशोक से कहता है, "राजकुमार······ब्राह्मणों का वह दिन चला गया—सदैव के लिए चला गया, जब चक्रवर्तियों के मुकुट से उनके चरण सुशोभित होते थे। सदैव परलोक का चिन्तन करते रहने के कारण ब्राह्मणों ने अपना यह लोक खो दिया; नहीं तो जितना आत्म-बलिदान इस जाति ने अदृश्य के लिए किया है, उतना ही बलिदान यदि दृश्य के लिए किये होती तो आज यह विशाल उसकी मुट्ठी में होता।"[2]

ब्राह्मणत्व का यही पुजारी उचित अनुचित सभी को धर्म की संज्ञा प्रदान करता है। गिरीश जो उसका शिष्य था, वही इस प्रकार उसका विरोध करने लगता है —

१. 'अशोक', पृष्ठ १६. २. 'अशोक', पृष्ठ ३

धर्मनाथ—"तुम क्या समझोगे मूर्ख इन बातों को—धर्म के कल्याण के लिए कभी-कभी ऐसे कार्य करने पड़ते है, जो देखने में अधर्म प्रतीत होते हैं।"

गिरीश—"हाँ, क्योंकर समझ सकता हूँ। आपने युद्ध कराकर लाखों निरपराधियों की हत्या करायी—लाखों युवतियों को विधवा और लाखों माताओं को पुत्रहीन कर दिया—आपके इस महान धर्म को मैं किस प्रकार समझ सकता हूँ।"[1]

एक अन्य स्थल पर गिरीश इन शब्दों में धर्मनाथ के चरित्र का वास्तविक चित्र उपस्थित करता है, "......सम्राट बिन्दुसार से मिलकर अशोक को उज्जैन भेजा—विमला को सहायता देकर एन्टीपेटर को मरवाना चाहा—राजकुमार भवगुप्त के मारने की भी इच्छा थी, जिसे जानकर बेचारा राजकुमार राज्य छोड़कर कहीं चला गया—राजदूत जगत सूर को प्रलोभन देकर भी सभा में यह कहला दिया कि 'कलिंग में मेरा अपमान हुआ है', यद्यपि यह बात सत्य न थी, जगत सूर कलिंग गया ही न था—जिसका परिणाम यह हुआ। उफ़! कितना बड़ा विश्वासघात! ब्राह्मण तुम्हारा यह अन्तिम अपराध कहा भी नहीं जाता, कभी किसी ने किया अथवा नहीं। कलिंग के अबोध राजकुमार को बातों में फँसाकर उसकी सेना के सेनापति बन बैठे, और अन्त को युद्धभूमि में विश्वासघात कर उसी राजकुमार की सेना पर आक्रमण कर दिया—इतना ही नहीं, राँजकुमार की मृत्यु के कारण बने। तुम्हारे अपराधों के स्मरण करने से भी पाप लगता है—धूर्त, अत्याचारी आँखें दिखाते हो? अपने पापों से दब नहीं मरते।"[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्मनाथ का चरित्र एक कूटनीतिज्ञ का चरित्र है और राजनीति में वह उचित-अनुचित, नैतिक-अनैतिक सभी साधनों द्वारा अपने कार्य-सिद्धि में तत्पर रहता है।

अशोक—नाटक का नायक होते हुए भी वह नाटक की घटनाओं

१. 'अशोक', पृष्ठ १४७. २. 'अशोक', पृष्ठ १४८.

को विशेष प्रभावित करता नहीं चलता। वह केवल शस्त्रजीवी ही नहीं, बुद्धिजीवी भी है। वह विवाहित है और देवी जैसी यौवनोन्मादित युवती उसकी पत्नी है। वह उसके उन्माद का बुद्धिजीवी की तरह तर्क की कसौटी पर कस, परिस्थिति का ज्ञान कराना चाहता है, "देवी, विश्व के दो पहलू हैं—कोमल और कठोर, सदय और निर्दय। सृष्टि का संचालन इन दोनों द्वारा होता है। एक, बिना दूसरे के ठहर नहीं सकता। सच तो यह है कि यह एक ही नियम के दो अंग है—इन दोनों के सम्मिलन में ही नियम की परिपूर्णता है। कोमलता और सदयता तुम में है, कठोरता और निष्ठुरता मुझमें है।"[1] एक स्थान पर अपनी उपेक्षा की भावना से स्वयं आहत हो वह देवी के सम्मुख क्षमा की भिक्षा माँगता है, "मुझसे भूल हुई थी। क्षमा करो, अपने भिखारी को भीख न दोगी?"[1]

अशोक ब्राह्मणों की श्रद्धा के साथ उपासना करता है। धर्मनाथ से वह कहता है, "क्यों भगवन्! आप ब्राह्मण हैं। क्या कोई वस्तु इस ब्राह्मणत्व से भी पवित्र हो सकती है? यदि अशोक किसी भी वस्तु को प्रणाम कर सकता है, तो वह है 'ब्राह्मणत्व'।"[2] अन्त में वह धर्मनाथ के कुत्सित कार्यों को जान कर भी क्षमा कर देता है। उसे पश्चाताप अवश्य होता है पर वह संस्कारों के कारण विवश है। वह कहता है, "सत्य है? यह मैंने क्या किया, भविष्य का संसार मुझे कितना पापी कहेगा? मालूम होता है—जैसे पृथ्वी पैरों तले से खिसक रही हो, आकाश काँप रहा है! मैंने कितना पाप किया—लाखों हत्याएँ हुईं, एक बहुत प्राचीन राजवंश का नाश हो गया। उफ़, इच्छा होती है—ब्राह्मण-गुरुमंत्र ले चुका हूँ—विश्व प्रेम का उपासक होकर तुमको दण्ड दे सकता। जाओ ब्राह्मण मैंने तुम्हें क्षमा कर दिया। मेरा तुमसे कोई विरोध नहीं, विरोध है इन कुत्सित कार्यों से।"[3]

१. 'अशोक', पृष्ठ ६८.   २. 'अशोक', पृष्ठ ३.
३. 'अशोक', पृष्ठ १४६.

उपर्युक्त दुर्बलताओं के साथ ही अशोक उदात्त गुणों से सम्पन्न है। वह पिता बिन्दुसार पर भी क्षमा का ही दृष्टिकोण रखता है। पाटलिपुत्र आता है पर सम्राट बनने के लिए नहीं, वरन् धर्मनाथ के आदेश से जैसा वह स्वयं स्वीकार करता है, "गुरुदेव! आपको यह स्पष्ट करना चाहता था कि मैं यह साम्राज्य नहीं चाहता, जिसके लिए मुझे इतना दीन होना पड़े; मुझे सम्राट होना है और मैं यह जानता भी नहीं। एक चक्र की भाँति घुमाया जा रहा हूँ।"[1] इतना ही नहीं वह बड़े भाई भवगुप्त को ही साम्राज्य का अधिकारी मानता है। भवगुप्त से वह कहता है, "मैं पाटलीपुत्र ले चुका था। पिता जी ने यह देखा, अब साम्राज्य जाता है, अपने सम्राट बने रहने के प्रलोभन में पड़कर सम्राट ने मुझे साम्राज्य देने का विचार किया। यह दान उचित नहीं है। यह साम्राज्य तुम्हारा है भाई, तुम्हीं सम्राट बनो। मैं रास्ता भूल चुका था, फिर लौट आया।"[2] अंत में वास्तविक सद्बुद्धि के उत्पन्न होने पर अशोक आत्म-ग्लानि से भर जाता है और उसे सर्वदत्त के सम्मुख इन शब्दों में स्वीकार करता है, "यही विजय है—मैं मूर्ख समझता था—मैं जीत गया, किन्तु आज मालूम हुआ—जीत नहीं, हार गया था। महाराज आप विजयी हैं, और मैं—नहीं। यह क्या महाराज, अपना कलिंग आप ले लीजिए। मुझे अपनी तृष्णा का पूरा दण्ड मिला। भूल हुई थी—सुधर गई।"[3] पश्चाताप और प्रायश्चित के इस अन्त में ही वास्तव में कला की पूर्ति होती है, और यही नाटककार का ध्येय है। अशोक के चरित्र में इस पूर्ति की झलक मिलती है। प्रारम्भ से महत्वाकांक्षी होते हुए जीवन में व्यक्तिगत सुख, लाभ और ख्याति का वास्तविक अर्थ संसार से विराग, समता और परोपकार में पाता है।

डायना—नारी पात्रों में ग्रीक नारी डायना प्रमुख पात्र है। वह एन्टीपेटर नामक युवक से प्रेम करती है। निर्धन तथा ऐश्वर्यहीन होने के

१. 'अशोक', पृष्ठ ८०. २. 'अशोक', पृष्ठ ८६.
३. 'अशोक', पृष्ठ १६५.

कारण एन्टीओकस उसका विवाह उससे नहीं करना चाहता, किन्तु दोनों के हृदय में प्रेम का अंकुर दृढ़ हो चुका है। डायना आजीवन उसको अपने रक्त से पालती रहती है। वह भावुक होने के साथ ही सरलता का आगार है, "हाँ, इस भाव को अब दबा नहीं सकती। वह साधना मेरे भीतर बहुत दिनों से चल रही थी, आज समाप्त हुई। इतने दिनों से तरंगों पर तैरती चली आ रही थी—आज नीचे चली जा रही हूँ, देखूँ कितना जल है। अब तैरने की शक्ति नहीं रही। मैं डूबना चाहती हूँ, कोई बचा नहीं सकता।"[1]

वह पिता के सम्मुख अपने प्रेम को स्पष्ट रूप से स्वीकार करती है और मैलडन के राजकुमार से विवाह करने में इस प्रकार असमर्थता प्रकट करती है, "अच्छा होता, यदि अपने हृदय की सारी शक्ति लगाने पर भी मैं शून्य में मिल पाती—यदि होता। पिता जी निकल भागने का बड़ा प्रयत्न किया, किन्तु आपने मुझे निकलने नहीं दिया। कहना ही पड़ता है—मैं एन्टीपेटर को प्यार करती थी, और अब भी उसे चाहती हूँ। पिता जी इस संसार में मेरा जो कुछ स्वर्ग है, वह एन्टीपेटर के चरणों में है—मैं उसी स्वर्ग को प्राप्त करना चाहती थी, न पा सकी।"[2] प्रेम में वह सामाजिक ऐश्वर्य तथा धन का व्यवधान नहीं मानती। वह अन्यत्र अपने पिता से कहती है, "राजकुमारी का विवाह भिक्षुक के साथ। पिता जी यह बड़ा ऊँचा आदर्श है, ईश्वरीय प्रकाश की झलक इससे स्पष्ट देख पड़ती है। यदि यह स्थापित हो जाय तो मानव जाति की मुक्ति बड़ी सरल हो जाय। ऐश्वर्य से जो अंधे हो उठे हैं, वह भी देख लें कि सूर्य की सुनहली किरणें जिस प्रेम के साथ दरिद्र की झोंपड़ी को चूम लेती हैं, उस प्रेम से वह राजभवनों को देखतीं भी नहीं।"[3] इस चित्रण से यह स्पष्ट हो जाता है

१. 'अशोक', पृ० २३, २. 'अशोक', पृ ४६,
३ 'अशोक', पृ० ४७,

कि वह तपस्या और त्याग द्वारा सदैव अपने आदर्श प्रेम की रक्षा में तत्पर रहती है। अन्त में वह भावुक प्रेमी की तरह तड़पती हुई विरहोन्माद में पागल सी हो जाती है।

देवी—देवी अशोक की पत्नी है जो उसकी व्यस्तता के कारण सदैव उपेक्षित रहती है। उसका यौवन ज्वार पर है और वह पति-परित्यक्ता है। उद्दीप्त वासना के कारण वह सदैव विकल और पीड़ित रहती है। नाटक में अधिकतर उसका मुखर वासनात्मक रूप ही हमारे सम्मुख आता है। अत्यधिक भावुक होने के साथ ही साथ त्याग और साधना में उसका विश्वास नहीं रह गया है। अशोक से युद्ध की उपेक्षा करती हुई वह कहती है, "फिर वही युद्ध। प्रियतम, युद्ध छोड़कर तुम्हारे लिए कुछ है ही नहीं हँसता हुआ चन्द्रमा, ये चुप, निर्निमेष तारे—यह असीम नील गगन—यह सन सन करता हुआ समीर—यह फूली हुई लताएँ और यह कोकिला का उन्मुक्त संगीत! क्यों नाथ तुम्हारा हृदय कभी इनकी ओर आकृष्ट नहीं होता?"[1] इतना ही नहीं भावुकता जब वासना का सहयोग पाती है तो वह कहती है—"(अशोक का हाथ पकड़कर आग्रह से) चलो, सोने चलें। महीनों बीत गये रात को कभी तुमसे भेंट नहीं हुई। आज अकेली न सोऊँगी।"[2]

समस्त नाटक में देवी के चरित्र को इसी रूप में प्रस्तुत किया गया है। अन्यत्र वह कहती है, "नहीं हो सकता—मेरे साथ सोना नहीं हो सकता क्यों यह इच्छा होती है—जब पूरी ही नहीं होने पाती?"[3] अशोक को नींद आने का उपाय वह इन शब्दों में बताती है, "आती क्यों नहीं, देखो— मैं बुला देती हूँ। इस तरह सोओ, यहाँ सिर रखो, यहाँ हाथ—फिर इस ओर मुँह कर सो जाओ।" अशोक जैसे नायक की पत्नी होकर देवी का यह

१. 'अशोक', पृ० ६७. २. 'अशोक', पृ० ६६.
३. 'अशोक', पृ० ६६

चरित्र कुछ खटकता है। यद्यपि वह सदैव उपेक्षित रहती है और इस कारण उसके इन कथनों में स्वाभाविकता का अंश अवश्य है, किन्तु वासना का इतना स्पष्ट संकेत उसके लिए शोभाजनक नहीं प्रतीत होता।

अभिनेयता की दृष्टि से नाटक विशेष सफल नहीं कहा जा सकता काल और स्थान की एकता का भी इसमें विशेष ध्यान नहीं रखा गया है। इन्द्रप्रस्थ के यमुनातट से दूसरा दृश्य राजमहल का प्रारम्भ होता है तथा चौथे दृश्य में पाटलीपुत्र का राजभवन आ जाता है। एक दूसरे से सर्वथा भिन्न इस प्रकार के दृश्यों को सजाने में कठिनाई होती है। इसके साथ ही युद्ध, अश्व-संचालन तथा नावों के चलने आदि के दृश्यों का दिखाना अत्यन्त कठिन है। भावुक स्थलों की भाषा अपेक्षाकृत क्लिष्ट हो गई है और कथोपकथन स्थान-स्थान पर अधिक लंबे हो गये हैं जो भावोत्कर्ष में व्यवधान उपस्थित करते हैं। अन्य दृष्टियों से 'अशोक' एक सफल ऐतिहासिक नाटक है।

इस नाटक के सम्बंध में श्री ब्रजरत्नदास ने हिन्दी नाट्य-साहित्य में लिखा है, "भारत के सुप्रसिद्ध सम्राट अशोक के जीवन वृत्त को लेकर इस नाटक का कथावस्तु निर्मित हुआ है। इसमें व्यापार का आधिक्य है, जिससे नाटककार प्राचीन-काल के इतिहास से विशेष अभिज्ञ न होने के कारण उसे पूर्णतया सुगठित नहीं कर सके हैं। अशोक का चरित्र गिराकर और धर्मनाथ के हाथ के खिलौना, कादर तथा धोखेबाज बनाकर, ऐसे विश्वविख्यात सम्राट के साथ अन्याय किया गया है और उसके साथ साथ ग्रीक एन्टीपेटर के चरित्र को ऊँचा उठाकर इसे एकदम पाठकों तथा दर्शकों की दृष्टि में रसातल में पहुँचा दिया गया है। कल्पित धर्मनाथ ब्राह्मण का चित्रण चाणक्य की नकल भर है पर एक ऐतिहासिक व्यक्ति के चित्रण में उच्छृङ्खलता किसी भी ध्येय की पूर्ति नहीं करती।"[१]

१. देखिये, श्री ब्रजरत्नदास लिखित 'हिन्दी-नाट्य-साहित्य', पृष्ठ २०४

हम विद्वान आलोचक के इन विचारों से सहमत होने में असमर्थ हैं। अशोक के चरित्र को गिराया गया है, यह कहना तथ्य से परे है। नाटक में अशोक को सहृदय और दैवी गुणों से सम्पन्न दिखाया गया है। धर्मनाथ का चित्रण चाणक्य की नकल है, यह कथन भी निराधार और पूर्णतया असत्य है। मिश्र जी का यह नाटक प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' नाटक के पूर्व की रचना है, अतः ऐसा कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

गरुड़ध्वज

गरुड़ध्वज लेखक का संस्कृति प्रधान ऐतिहासिक नाटक है जिसमें ईसा पूर्व पहली शताब्दी से लेकर पाँचवीं शताब्दी तक की सामाजिक स्थिति का सजीव चित्रण प्रस्तुत किया गया है। इस नाटक में हमें एक नवीन विचारशैली तथा सांस्कृतिक जिज्ञासा के दर्शन होते हैं।

मिश्र जी के प्रसिद्ध नाटक 'नारद की वीणा' की भूमिका में श्री शुकदेव चौबे ने इस नाटक का उल्लेख करते हुए लिखा है, "अपने पिछले नाटक 'गरुड़ध्वज' में उन्होंने मौर्यकाल से लेकर ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक की सभी धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक, समस्याओं और संघर्षों का जीवित चित्र उपस्थित किया है।"

कथानक—नाटक का कथानक भारतीय इतिहास के उस प्राचीन युग का कथानक है जिसका इतिहास अभी तक अधिकांशतः अंधकार में ही है। प्रस्तुत कथानक द्वारा कल्पनापूर्ण ऐतिहासिक सामग्री का उपयोग कर शुंग वंश पर प्रकाश डाला गया है और उसी के साथ 'मालविकाग्नि-मित्र' के रचयिता कालिदास का सम्बंध जोड़ने का नाटककार का अपना प्रयास है। कथानक का आधार ग्वालियर के पास भिलसा (पुराना विदिशा) नामक नगर के पुष्यमित्र शुंग के वंशज अग्निमित्र की कथा है। उसी से अवन्ती के मालव-कुमार विषमशील (विक्रमादित्य) का सम्बंध जोड़कर कथानक की परिसमाप्ति की गई है। विक्रममित्र के साथ कालिदास आदि का सम्बंध तथा उसकी ऐतिहासिक सत्यता की खोज हमारा विषय नहीं।

हमें तो नाटककार की सामग्री के उपयोग और उसके निर्वाह पर ही विशेष ध्यान देना है।

कथानक का प्रारम्भ विदिशा के तट पर बसे विक्रममित्र के राज-प्रासाद से होता है। राजप्रासाद में लोमष तथा पुष्कर नामक दो सैनिक वार्तालाप कर रहे हैं। पुष्कर अनजान में ही विक्रममित्र के लिए 'महाराज' शब्द का प्रयोग कर देता है। सेनापति की ओर से इस सम्बोधन का निषेध है जिसका उल्लंघन करने पर जीवन से हाथ धोना पड़ता है। इतने में ही मलय कुमारी मलयवती, वासंती (काशीराज की कन्या) के साथ प्रवेश करती है और वह पुष्कर को इस बात का अश्वासन देती है कि वह विक्रम-मित्र से उसकी रक्षा करेगी। यहीं पर वासंती तथा मलयवती के वार्तालाप द्वारा वासंती के गुप्त प्रेम तथा यवन कुमार के साथ विवाह आदि का पता लगता है। साथ ही वासंती के उन्माद तथा उसकी विक्षिप्तावस्था का निराकरण विक्रममित्र का ज्ञान करता है। वह अपने पिता के प्रति किये गए विद्रोह का शेष विक्रममित्र पर प्रकट करती है। प्रथम अंक में ही वासंती का प्रेम कालिदास की ओर उन्मुख होता है।

वासंती उन्मादावस्था में आत्महत्या करना चाहती है। विक्रममित्र पहले से ही सचेत रहते हैं और वह उसके प्रत्येक कार्य पर दृष्टि रखते हैं। दूसरे अंक में कालिदास, काशीराज के पास जाते हैं। वहीं पर बौद्ध विद्वानों की कटूक्तियों पर अपने शील से विजय प्राप्त करते हैं। काशीराज का हृदय भी वह जीत लेते हैं और वे उन्हें अपने पुत्र की भाँति प्यार करने लगते हैं। इसी बीच वासंती को विक्रममित्र द्वारा पवित्रता का आश्वासन मिल जाने पर वह अब सुखी होकर जीना चाहती है। विदशा में काशीराज आते हैं और पिता-पुत्री का मिलाप होता है।

तृतीय अंक में कुमार विषमशील, मान्धाता, कालिदास (मेघरुद्र) काशीराज आदि सभी शकों के विरुद्ध युद्ध करने जाते हैं। काशीराज की सहायता से कुमार विषयशील की रक्षा होती है। काशीराज शैव हो जाते हैं। जैन कालकाचार्य की शक्ति का नाश होता है और वह अपनी हार जान

आत्मसमर्पण करता है । सौम्यदर्शना उसे क्षमा कर देती है और भावी अवन्ती के निर्माण का कार्य उसे ही सौंपा जाता है । विषमशील का विवाह मलयवती तथा कालिदास का वासंती से होता है । राज्याभिषेक के अवसर पर दवभूति तथा कौमुदी दोनों को क्षमा कर तथा विक्रममित्र और महेन्द्रादित्य को मिलाकर विक्रमादित्य नाम धारण कर विषमशील राजा बनते हैं और यहीं पर नाटक के कथानक की समाप्ति होती है।

कथोपकथन—कथोपकथन की दृष्टि से यह नाटक पूर्णतया सफल है। अधिकांश कथोपकथन सीधे और आगे होने वाली घटनाओं का आभास देते चलते हैं । कहीं-कहीं कल्पना तथा भावुकता के वेग में वे काव्यमय अधिक हो गये हैं, किन्तु काव्यात्मकता के भीतर भी वे किसी न किसी दर्शन या सिद्धान्त वाक्य का निरुपण करते हुए मिलते हैं। एक स्थान पर विक्रममित्र, वासंती को समझाते हुए कहते हैं, "मनोविकारों से ऊपर उठना है बेटी हमें। तुम अग्नि नहीं हो जो तुम बार बार कह रही हो······तुम गंगा की वह धार हो जो पर्वत में बंद है । किसी भगीरथ को पर्वत फोड़ कर तुम्हें निकालना होगा, फिर तो तुम दग्ध मरु भूमि को भी नन्दन बना दोगी। शुभ और मंगल में आस्था रहने दो । तुम्हारा उद्धार मैंने किया था आर्य गौरव के उद्धार के लिए। यदि वह सत्र मिथ्या नहीं है तब तो तुम्हारा उद्धार ध्रुव है। और तुम्हारे सामने देखना आर्यावर्त के सभी राजकुमार नतमस्तक होंगे।"[1]

कथोपकथनों में कहीं-कहीं हास्य तथा व्यंग्य के सुन्दर प्रयोग मिल जाते हैं। कालिदास तथा कुमार विषमशील दोनों वासंती और मलयवती को लेकर एक दूसरे से परिहास करते हैं। कालिदास कहते हैं "किस तरह भूल गये विदशा के प्रासाद का उपवन······घूम घूम कर मलयकुमारी को आँखों से पी जाना चाहते थे···"

१ 'गरुड़ध्वज', पृष्ठ ७२

कुमार विषमशील—"क्यों जी, एक ही साथ जहाँ कई सुन्दरियाँ होती हैं...किसी एक की ओर चित्त कैसे रम जाता है..."

कालिदास—"इसका उत्तर तो भगवान पुष्पधन्वा ही दे सकेंगे।"

कुमार विषमशील—"कवि और कामदेव, उच्चारण में तो जैसे दोनों सहोदर हैं। अपने उन बड़े भाई का काम कर डालो तुम......"[2]

पात्र तथा चरित्र-चित्रण—प्रस्तुत नाटक की रचना पात्रों तथा उनके चारित्रिक विकास की दृष्टि से नहीं की गई है। ऐतिहासिक होने के कारण इस नाटक में हमें तत्कालीन घटनाओं का इतिहास मिलता है। नाटक में आद्योपान्त विक्रममित्र का चरित्र छाया रहता है। कथानक से सम्बद्ध तत्कालीन समस्त प्रमुख पात्रों का इसमें समावेश किया गया है और इसी कारण नाटक के पात्रों की संख्या बीस के लगभग हो गई है। कौमुदी और देवभूति जैसे पात्रों का समावेश तो केवल इतिहास की रक्षा के लिए ही जान पड़ता है। इनकी अनुपस्थिति में भी नाटक के कथानक में कोई विशेष अन्तर नहीं हो सकता था। पात्रों की इतनी अधिक संख्या होने से नाटक कुछ जटिल भी हो गया है। शुंग वंश के साथ कालिदास का सम्बंध स्थापित करना नाटककार का अभीष्ट है। नारी पात्रों में कौमुदी और सौम्यदर्शना कथानक को विस्तृत करने के अतिरिक्त अन्य कोई विशेष महत्व नहीं रखती। नाटक का समस्त कलेवर विक्रममित्र और वासंती की भावधारा में ही लिपटा है। वे ही नाटक के प्रतिनिधि चरित्र हैं, अतः चरित्र चित्रण की दृष्टि से हम इन्हीं दो प्रतिनिधि चरित्रों को लेंगे।

विक्रममित्र—नाटक का वह पात्र है जिसके प्रभाव से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सारा नाटक रचित है। उसका चरित्र समस्त नाटक को आच्छादित किये है। वह शुंग वंश का है और अपने परिवार की गृह-कलह को मिटाने के लिए ही उसने आजीवन ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा ले ली है। राज्य-सिंहासन का समस्त कार्य-भार सम्हालते हुए भी वह राज्यलोभ से

१ 'गरुड़ध्वज', पृष्ठ १४६–१५० २ 'गरुड़ध्वज', पृष्ठ १६०.

सर्वथा निर्लिप्त है। उसे यदि कोई चिंता है तो बौद्ध तथा विदेशी दुराचारियों के उपद्रवों की ओर उसका अभीष्ट है भारतीय संस्कृति का पुनर्स्थापन। सिंहासन की ओर वह केवल एक सेवक की दृष्टि से देखता है। उसका बाह्य बज्रादपि कठोर है और अन्तर अत्यन्त कोमल। वह भारतीय संस्कृति के सद्गुणों से परिपूर्ण धीर, प्रशान्त गुणों से युक्त हैं।

भारतीय आश्रम-धर्म में अनन्य निष्ठा रखते हुए वह उसी के अनुसार जीवन-यापन के पक्षपाती हैं। प्रण-पालन में वह अपने को बलिदान कर देने को प्रस्तुत रहते हैं, किन्तु परम्परा की शृंखला तोड़ना उन्हे प्रिय नहीं। पुष्कार के 'महराज' कहने के अपराध का मार्जन वह नहीं कर सकते। मलयवती की क्षमा-प्रार्थना पर वह कहते हैं, "इसलिए तो कह रहा हूँ मेरा प्राण मांग ले, यह मेरा है, किन्तु स्वर्गीय पूज्यपाद पुष्यमित्र ने इस वंश के लिए जो प्रतिज्ञा की वह नहीं टूट सकती। उस पर मेरा कोई अधिकार नहीं। पुष्कर जानता था, उसने गरुड़ध्वज की शपथ ली थी कि कभी मुझे या मेरे वंश को राजा वाचक शब्द से सम्बोधित नहीं करेगा।"[1]

राष्ट्र-नीति में वह जितना शास्त्र को महत्व देते हैं उतना ही शस्त्र को भी। वह यदि कालिदास की कविता पर मुग्ध हो आँख मूँद लेते हैं तो मान्धाता के शस्त्र-कौशल की प्रशंसा करते हुए कहते हैं, "अरे! भूल रहे हो वत्स, शास्त्र में किसी भी अंश में शस्त्र हीन नहीं है! राष्ट्र की रक्षा कोरे शास्त्र से नहीं हो सकती। शस्त्र रक्षित राष्ट्र में ही शास्त्र जन्म लेता है। शास्त्र का जन्म शस्त्र के बहुत पीछे हुआ। कवि कालिदास युद्धों का वर्णन केवल कल्पना से नहीं कर सकते यदि तुम्हारे शस्त्र-कौशल का अनुभव उन्हें न होता। शास्त्र और शस्त्र दोनों ही विद्याएँ हैं। पराजित जाति में शास्त्र-चर्चा सबसे नीची कोटि का अज्ञान और विडम्बना है..."[2]

राष्ट्रीयता और शास्त्र-निपुणता के पक्षपाती होने के साथ ही वह जातीय गौरव के भी अनन्य पुजारी हैं। वह बौद्धधर्मावलम्बी काशीराज की

---

१. 'गरुडध्वज', पृ० ४७ २. 'गरुडध्वज', पृ० ५७-५८

पुत्री का अपहरण कर उसे यवन चंगुल से मुक्त कराते हैं। वासंती से वह एक स्थान पर कहते हैं, "तुम्हारे पिता के आ जाने पर उनके सामने सब कहूँगा। उन्हें भी ज्ञात हो जायगा मैं आततायी नहीं हूँ...उनके सम्मान में मैं अपना, इस सारे देश का सम्मान समझता हूँ। बौद्ध होने का अर्थ यह नहीं है कि जातीय गौरव विदेशियों के चरणों पर गिरा दिया जाय...इस आर्यावर्त के विचारक और वीर खड़े देखते रहें और हमारी राज्य-लक्ष्मी के केश विदेशी काट लें।"[1]

त्याग, तपस्या और आदर्श भारतीय जीवन बिताने के साथ ही वह मानवीय दुर्बलताओं से युक्त हैं। कालिदास के लिए उनके हृदय में अत्यन्त कोमल स्थान है। अपने हृदय की इन दुर्बलताओं का समर्थन वह इस प्रकार करते हैं, "मनुष्य का विकार मुझमें भी है। प्रकृति ने विकार मनुष्य को ही दिया। हमारे नीचे...इमसे उतर कर जो पशु हैं उनमें विकार आपको नहीं मिलेगा। फिर अपने इस सत्य से मैं क्यों छूट सकूँगा। दस वर्ष की अवस्था से इधर पंद्रह वर्ष जिसकी नींद सोता और जागता रहा...उसके चले जाने पर मेरे भीतर जो गर्त बन जायगा..."[2] इसके साथ ही वह नारी की शक्ति और उसके महत्व को इन शब्दों में स्वीकार करते हैं, "नारी शक्ति से ही पुरुष को विजय मिलती है और फिर जहाँ माता की प्रेरणा काम करे, वहाँ असाध्य और असम्भव कुछ नहीं है।"[3]

वासंती—नाटक के नारी पात्रों में विशेष रूप से नारी-चरित्र का दर्शन कराने वाली पात्र वासंती है। नाटककार की समस्त नारी अनुभूति वासंती के मुख से बोल रही है। वासंती द्वारा परम्परा से चले आये नारी कलंक की भावना की व्याख्या करायी गई है। किस प्रकार एक अबोध बालिका जिसने अपने भावी पति के कभी दर्शन भी नहीं किये हैं, एक अपरिचित के गले बाँध दी जाती है। बाद में उसके विधवा हो जाने

---

१. 'गरुड़ध्वज', पृ० ६७ २. 'गरुड़ध्वज', पृ० १२४

३. 'गरुड़ध्वज', पृ० १२५

पर संसार उसे अपवित्र समझ बैठता है। वासंती आरम्भ में ही मलयवती से अपने इस क्षोभ का प्रदर्शन इस प्रकार करती है, "किसका-किसका मुँह बंद करोगी बहन! लोक-निन्दा रोकने की शक्ति रामचन्द्र में नहीं हुई और सीता सी सती को वनवास करना पड़ा। राजरानी को और वह भी उस दशा में जब वे गर्भवती थीं...प्रकृति किसी किसी को रोने के ही लिए, लोक निन्दा में मर मिटने के लिए ही बनाती है।...और मेरे लिए तुम इतनी चिन्ता न करो। मैं जानकी की तरह गर्भवती और विवश नहीं हूँ। अभी मेरी पाँखें फैल रही हैं, मैं फुर्र से उड़ जाऊँगी।"[1]

सामाजिक उपेक्षा और अन्याय उसे उदासीन बना देता है। वह धर्म से विमुख हो उन्मादिनी बन जाती है। धर्म के प्रति उसका दृष्टिकोण कितना उदासीन है, यह उसके इस कथन से लक्षित होता है, "मैं कह रही थी संसार से सभी धर्म मिट जाते, किसी दिन, बौद्ध, वैष्णव, शैव, कोई नहीं रहता। जिसकी चल जाती है अपने ही विश्वास की भूल को चाहे उसे धर्म कहो......चाहे और कुछ, दूसरों पर लादने लगता है। वह देखो वह हरिण, वह मयूर और वह गोवत्स, उनमें तो धर्म का कोई झगड़ा नहीं है। मनुष्य भी क्या उस तरह नहीं रह लेगा।"[2] इसके साथ ही उसका निराशा-जनित उन्माद भी कहीं-कहीं लक्षित होता है। एक स्थल पर वह मलयवती से कहती है, "थी तो नहीं......किन्तु अब हो रही हूँ......ऐसे रह जाने से तो अच्छा है किसी अनुराग में पड़े रहना। बिना अनुराग के यह जीवन भी क्या रहेगा।"[3]

परिस्थिति बदलते ही जीवन के प्रति उसका मोह जाग्रत होता है और वह कालिदास को प्रेम करने लगती है। विक्रममित्र तथा काशीराज (अपने पिता) की स्वीकृति मिल जाने से अब वह जीवित रहना चाहती है। उस समय उसका विनोदी स्वभाव सामने आता है। वह कालिदास के

१. 'गरुडध्वज', पृ० ३१-३२ २. 'गरुड़ध्वज', पृष्ठ २४।
३. 'गरुड़ध्वज', पृष्ठ ३३।

साथ परिहास करते हुए कहती है, "इन कवि महोदय की शक्ति असीम है......कौन जाने इनकी बात महादेवी......कुमार और आचार्य भी तो नहीं टाल सकते।"[1]

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि वासंती उस युग के धार्मिक मतवाद, नारी-समस्या तथा विधवा-विवाह आदि की व्याख्या करने वाली पात्र है जिसके चारित्रिक विकास में पर्याप्त सतर्कता से काम लिया गया है। नाटककार ने उसका विवाह कराकर उस युग की अबलाओं के प्रति अपनी सहानुभूति दर्शायी है।

अभिनेयता की दृष्टि से यह नाटक भी अन्य ऐतिहासिक नाटकों के समान है। उपवन तथा युद्ध आदि को रंगमंच पर प्रदर्शित करना अत्यन्त कठिन है। अन्य सभी दृष्टियों से 'गरुड़ध्वज' एक सफल ऐतिहासिक नाटक है।

नारद की वीणा

प्रस्तुत नाटक आर्य-आर्येतर संस्कृतियों के संघर्ष और समन्वय पर आधारित है। जिस विचार और वर्णन शैली तथा सांस्कृतिक जिज्ञासा के हमें इस नाटक में दर्शन होते हैं उसमें लेखक की मौलिकता और नवीनता स्पष्ट रूप से लक्षित होती है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन की प्रसिद्ध पुस्तक 'वोल्गा से गंगा' में आर्यों की श्रेष्ठता और द्रविड़ों की हीनता का स्पष्ट संकेत किया गया है। इस सम्बंध में जैसा कि भूमिका में भी उल्लेख किया गया है, नाटककार का यह प्रयास है कि राहुल जी की इस विचारधारा के साथ ही साथ भारतीय जीवन दर्शन के प्रमुख तथ्य प्रकाश में आ जाय।

कथावस्तु—नाटक का प्रारंभ आश्रम में सुमित्र और सोमश्रवा के वार्तालाप से होता है जिससे यह विदित होता है कि सुमित्र आश्रम की एक कुमारी चन्द्रभागा पर अनुरक्त है। आश्रम के नियम इतने कड़े हैं कि वहाँ

1. 'गरुड़ध्वज', पृष्ठ १६०।

इस प्रकार के प्रणय की स्वतंत्रता नहीं। आश्रम के प्रधान महर्षि नारायण तथा आचार्य नर (आर्येतर) यहाँ के मूल निवासी हैं। चन्द्रभागा, सुमित्र तथा सोमश्रवा आर्य जाति के हैं और वह इस आश्रम में शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। सुमित्र स्वभाव से ही कोमल और सुकुमार है। आश्रम के जड़ नियमों में उसकी आस्था नहीं।। प्रवृत्तियों का दमन उसे स्वीकार नहीं और इसी कारण वह आश्रम छोड़कर कहीं चला जाता है। सोमश्रवा भी मन ही मन चन्द्रभागा से प्रेम करता है और इस कारण अपने प्रतिद्वंद्वी सुमित्र के चले जाने से उसे प्रसन्नता होती है। सुमित्र के अकस्मात् गायब हो जाने से आश्रमवासी चिंतित हो उठते हैं।

इसी अवसर पर प्रह्लाद तथा उसकी पत्नी मेनका आश्रम में आती है। मेनका, चन्द्रभागा को आश्रम में सुमित्र के वियोग में अत्यन्त दुखी, कातर और संतप्त पाती है। उनके हृदय में उसके प्रति संवेदना जाग्रत होती है और वह नर से उसके दुखी होने का कारण पूछती हैं। वह मेनका को बताते हैं कि सुमित्र के अचानक आश्रम से चले जाने के कारण वह दुखी है। इस पर मेनका यह रहस्योद्घाटन करती है कि सुमित्र ने ठीक वही किया है जो कभी आपने किया था। किसी समय नर भी मेनका को स्वर्णरेखा में छोड़कर इसी प्रकार चले आये थे।

तृतीय अंक में नाटक की चरम सीमा आती है। प्रह्लाद और महर्षि नारायण का आश्रम और उसके नियमों के सम्बंध में वाद-विवाद होता है। प्रह्लाद आश्रम में शस्त्रों की शिक्षा का विरोध करते हैं। नारायण शस्त्र शिक्षा को उचित बताते हैं और कहते हैं कि आत्मरक्षा के लिए युद्ध करना उचित है। प्रह्लाद इसमें सन्देह प्रकट करते हुए कहते हैं कि युद्ध करने की क्षमता आप में से किसी में नहीं। महर्षि नारायण की आज्ञा पाकर नर प्रह्लाद से युद्ध करने के लिए आगे बढ़ते हैं। यह तय होता है कि युद्ध में यदि नर विजयी होते हैं तो आश्रम में शस्त्र शिक्षा का विधान उचित है अन्यथा नहीं। उन दोनों का युद्ध होता है और नर के विजयी होने पर प्रह्लाद आश्रम के विधान के सम्मुख नत मस्तक होते हैं।

इसी अवसर पर नारद और संकुत के साथ सुमित्र आश्रम में लौट आता है। मेनका महर्षि नारायण से अनुरोध करती है कि चन्द्रभागा और सुमित्र का विवाह कर दिया जाय। यह निर्णय होता है कि पन्द्रह दिन बाद शुभ लग्न में उन दोनों का विवाह सम्पन्न होगा। संकुत (आर्य) महर्षि नारायण से क्षमा याचना करता है और उनके विधान में आस्था प्रकट करता है। अंत में नारद वीणा बजाते हैं तथा नर और मेनका के साथ लोग स्वस्ति--गान गाते हैं। यहीं पर नाटक समाप्त हो जाता है।

कथोपकथन—नाटक के कथोपकथन प्रत्येक दृष्टि से उच्च कोटि के हैं। उनकी भाषा सरल, स्वाभाविक तथा प्रभाव पूर्ण है। नाटक के पात्र अपने विचार तथा मनोभाव अत्यंत स्पष्ट रूप से छोटे-छोटे कथोपकथनों द्वारा व्यक्त कर देते हैं। नाटक के कुछ कथन अत्यंत मर्मस्पर्शी हैं। उदाहरण के लिए महर्षि नारायण का यह कथन कितना प्रभावपूर्ण है,—"जीवन में जब गोपनीय को अधिक अवसर मिलने लगता है—समाज के प्रति विद्रोह की भावना भी व्यक्ति के भीतर बढ़ने लगती है।" एक अन्य स्थल पर महर्षि नारायण प्रेम को स्वाभाविक और प्राकृतिक बताते हुए कहते हैं—लेकिन यह अपराध तो प्रकृति का है। प्रकृति में वसंत का आना निर्दोष है या उसमें भी कोई दोष तुम देखते हो?" नाटक के अधिकांश कथन इसी प्रकार सुंदर शब्दों में गठे हुए हैं और प्रभावोत्पादक हैं।

नाटक के कथोपकथनों में व्यंग्य तथा हास्य के भी कई स्थल मिलते हैं। एक स्थान पर सुमित्र ज्योतिष के सम्बंध में कहता है,—"तो क्या इस विषय में ज्योतिष की सहायता नहीं मिलेगी, तुम्हें······तुम्हारा विज्ञान तो सबसे निश्चित है? क्या हुआ और क्या होगा, कितनी आयु कितना धन, एक शब्द में होनी का सारा रूप ही···"।[1] अन्यत्र सुमित्र और सोमश्रवा के इन कथनों में हास्य का अच्छा उदाहरण मिलता है—

सोमश्रवा—"यही कि तुम प्रेम पीड़ा से व्याकुल हो। तुम्हारा उपचार होना चाहिए"।

सुमित्र—"तो क्या महर्षि के पास इस रोग की भी औषधि है?"

नाटक के कथोपकथनों में कहीं-कहीं सुन्दर तर्क प्रस्तुत किये गए हैं। उदाहरणार्थ चन्द्रभागा और सुमित्र के इन तर्कों को देखिए —

सुमित्र—"मुझे तो कोई अभाव नहीं है ?"

चन्द्रभागा—इसलिए कि तुमने अभी तक उसका अनुभव नहीं किया। तुम्हें इसका अनुभव नहीं तो क्या इसकी सत्ता ही मिट गई ?"

सुमित्र—"और यदि कभी अनुभव न हो तो……।"

चन्द्रभागा—"तब भी अभाव तो रहेगा…अन्धे को चन्द्रमा न दीख पड़े और बहरे को कोकिल की कूक न सुनायी पड़े…तब भी चन्द्रमा भी रहेगा और रहेगी कोयल भी।"

पात्र और चरित्र-चित्रण—सांस्कृतिक नाटक होने के कारण नाटक में पात्रों की संख्या अधिक है। नारद, नारायण, नर, विजय कीर्ति प्रह्लाद तथा मेनका आदि पात्र भारत के मूल निवासियों के नेता हैं। संक्रत, सुमित्र, सोमश्रवा तथा चन्द्रभागा आर्यों के प्रतिनिधि पात्र हैं। नाटक में एक स्थान पर मेनका, नारायण से कहती है—"नारद आत्मा हैं, आप बुद्धि और नर शरीर हैं।" वास्तव में यह कथन नाटककार की विचारधारा को बहुत कुछ स्पष्ट कर देता है। यहाँ हम संक्षेप में नाटक के तीन प्रमुख पात्रों—सुमित्र, नारायण, तथा नर के चरित्र का अध्ययन करेंगे।

सुमित्र—आर्यों का प्रतिनिधित्व करने वाला पात्र है। महर्षि नारायण के आश्रम में वह शिक्षा ग्रहण करने आता है, किन्तु आश्रम के कठोर नियमों के प्रति उसकी कोई आस्था नहीं रहती। वह आश्रम के विधान और बन्धनों का विरोध करते हुए कहता है—"प्रदर्शन……केवल प्रदर्शन……विधान बनते हैं बस प्रदर्शन के लिए। मनुष्य सदैव सब जगह वही है…जो है। जनपद में हो या आश्रम में उसकी बनावट में अन्तर नहीं पड़ता।"

सुमित्र स्वभाव से ही कोमल और सुकुमार है। वह चन्द्रभागा से प्रेम करता है, किन्तु आश्रम के कठोर नियमों में इसकी स्वतंत्रता नहीं। वह प्रायः एकान्त में वीणा वादन किया करता है और उस अवसर पर चन्द्र-

भागा उसके पास पहुँच जाती है। उसका स्वभाव इतना संकोची है कि वह चन्द्रभागा को हृदय से प्यार तो करता है, किन्तु उसके सम्मुख वह कुछ नहीं कह पाता। उसका संकोची स्वभाव और उसके हृदय की सुकुमारता इस कथन से व्यक्त होती है—"आचार्य नर ने कहा सीधे देखकर क्यों नहीं चलते······सीधे देखने में मेरी आँखें जो······तुम्हारी खुली आँखों पर पड़ गईं······पैरों के नीचे से धरती भाग निकली······मैं करता ही क्या, बैठ गया और······"

सुमित्र आश्रम से अकस्मात् गायब हो जाता है। उसके चले जाने से आश्रमवासी चिंतित हो उठते हैं। उसकी अनुपस्थिति में अरुण के यह शब्द उसके स्वभाव और चरित्र पर प्रकाश डालते हैं—"यहाँ वालों के लिए तो वह उपास्य पहले ही हो उठा था। किसी के साथ कभी भी उसकी कटुता नहीं बढ़ी। संघर्ष उसकी प्रकृति में था ही नहीं। किसके लिए उसका शील······स्वभाव, विस्मय और आकर्षण का कारण नहीं बना। नाटक के अंत में संस्कृत और नारद के साथ सुमित्र आश्रम में वापस आता है और चन्द्रभागा के साथ उसका विवाह निश्चित हो जाता है।

नारायण—महर्षि नारायण प्रस्तुत नाटक के सबसे प्रमुख पात्र हैं। पराजित आर्येतर जातियों (यहाँ के मूल निवासियों) का वह प्रतिनिधित्व करते हैं। विजयी आर्यों को वह अपनी सभ्यता, ज्ञान तथा कौशल से जीतना चाहते हैं और उनका उद्देश्य है इन दो संस्कृतियों का सामंजस्य स्थापित करना। इस सम्बंध में उनके यह शब्द महत्वपूर्ण हैं—"हमको यह हवन की विधि इसलिए रखनी है कि वे जो हमारे विजेता हैं······जिन्होंने शरीर और शस्त्र बल से हमारी भूमि, हमारे देश पर अधिकार किया है······उनकी यह इतनी सी विधि स्वीकार कर हम उन्हें अपनी विधि में खींचेंगे। आज जो शस्त्र-विजयी हैं कल संस्कृति से पराजित होंगे। इसी उद्देश्य से वह आश्रम में विजयी जाति के विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान कर अपने में मिलाने के यत्न में लगे रहते हैं।

नारायण के चरित्र और आश्रम के उद्देश्य के सम्बंध में नर का

यह कथन प्रकाश डालता है—"जाने दो······हमारे लिए तो गुरु रूप में भी वे ईश्वर के अंश हैं। संघर्ष मिटाकर जो वे इस यायावर जाति के साथ समन्वय पर तुले हैं, इसके लिए जिस तरह उन्होंने इस यायावर भाषा का संस्कार कर उसमें अपने ज्ञान, विज्ञान, कला और संस्कृति का प्रवेश अपने इधर बीसों आश्रमों में आरम्भ कर दिया है और जिस निष्ठा के साथ वे यायावर पालित मृग की तरह अपना सर पृथ्वी पर रख रहे हैं उससे यह तय है कि किसी दिन मन, बुद्धि और शरीर से ये हमारे भीतर ऐसे मिल जायँगे कि फिर इनकी कोई भी भिन्नता शेष न रहेगी। अपने साथ जो कुछ भी लेकर ये आए थे वह तो समाप्त हो गया अब तो इन्हें हमारा आश्रित होकर रहना पड़ेगा। इनके शरीर को न जीत कर भी हम इनकी बुद्धि को जीत लेंगे।"[1]

नारायण के चरित्र में समन्वय के इस दृष्टिकोण के साथ ही वीरता का भी समावेश मिलता है। आत्मरक्षा के लिए युद्ध करना धर्म के अनुकूल है, इसका उल्लेख करते हुए वे कहते हैं—"आततायी होने के लिए शस्त्र-ग्रहण, आत्म-हनन है, किन्तु आततायी को रोकने के लिए शस्त्र न ग्रहण करना भी आत्मा हनन है और मैं आपसे यह भी कह दूँ कि धर्म व्यक्ति का नहीं, प्रकृति का होता है। धर्म का निर्माण प्रकृति करती है और उसी प्रकृति धर्म के अनुसरण से ही व्यक्ति धार्मिक होता है।"[2]

प्रणय के सम्बंध में उनके विचार अत्यन्त उदार हैं। आश्रम के कठोर नियमों के व्यवस्थापक होते हुए भी वह सुमित्र और चन्द्रभागा के प्रेम को स्वाभाविक और प्राकृतिक कहते हैं—"सोचिए, सुमित्र और इस चन्द्रभागा की अवस्था के कुमार-कुमारी यदि वैराग्य ही पढ़ें तो क्या प्रकृति इन्हें कभी क्षमा करेगी? प्रकृति प्रतिहिंसा से कभी नहीं चूकती।"[3] इतना ही नहीं वह समाज की समस्त कुरीतियों का सुधार समन्वय और समानता में ही

१. नारद की वीणा, पृष्ठ ६६ २. नारद की वीणा, पृष्ठ ६३
३. नारद की वीणा, पृष्ठ १०६

मानते हैं—"जिसे हम अनाचार कहते हैं उसका अवसर ही कम आने दें। हम अपने जनपदों और गुरुकुलों में भी ऐसे नियम ऐसे विधान चालू करें जिसमें भूख लगने पर ही भोजन मिले और प्यास लगने पर ही जल। किसी के भी पास अपव्यय के लिए अधिक न रहे। धन, प्रणय और विद्या किसी का भी अपव्यय समाज को रोगी बना देता है।" संक्षेप में महर्षि नारायण के चरित्र चित्रण के सम्बंध में हम यह कह सकते हैं कि उनके गंभीर और महान् व्यक्तित्व से संपूर्ण नाटक आच्छादित है।

नर—नर भी इस देश की पराजित आर्येतर जाति का प्रतिनिधित्व करते हैं। वह आश्रम के आचार्य हैं और सांस्कृतिक समन्वय के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। सुमित्र के अचानक आश्रम से चले जाने से वह चिंतित हो उठते हैं और उन्हें पुनः रक्तपात और हिंसा का भय होने लगता है। कठोर नियमों के बन्धनों को वह मनुष्य के स्वाभाविक विकास में बाधक मानते हैं—"हमने अपने बच्चों को सब ओर से बाँधकर विवश कर दिया है। जन्म लेते ही हम उन्हें नीति, धर्म और आचरण का उपदेश जो देने लगते हैं। यह न करना, वह न करना, बार बार इस नकारात्मक विधि से उनके लिए जीवन नकारात्मक हो उठता है। कर्म की स्वाभाविक प्रेरणा उनकी मारी जाती है।"

इन्द्रियों के दमन तथा अत्यधिक. नैतिकता के आवरण में मनुष्य का स्वाभाविक और प्राकृतिक स्वरूप नष्ट हो जाता है। इतना ही नहीं वह इसी को मूल निवासियों की पराजय का कारण बताते हुए कहते हैं,—हाँ, जिस तरह का निग्रह हमारे पूर्व पुरुषों ने, हमने किया उस निग्रह से तो जीवन की जड़ें सूख जाती हैं। हमारी सूख गई। यदि हमने नैतिक महत्व को न इतना आगे बढ़ाया होता, शस्त्र को नृशंसता कह कर दूर न फैंक दिया होता तो आज हम पराजित न होते और न हमें इन संकट की समस्याओं से पार होना पड़ता। सुमित्र और चन्द्रभागा की तरह के कुमार और कुमारियाँ हमारे घर भी होतीं—जिनकी प्रकृति विकृत न होती।"

प्रत्येक कार्य के लिए नियम और विधान का ध्यान रखना वह

उचित नहीं समझते। वह इसे अस्वाभाविक और मानवता की उन्नति के लिए बाधक समझते हैं। जिस प्रकार प्रकृति में परिवर्तन होता रहता है उसी प्रकार मनुष्य के स्वभाव, रहन सहन और विचारों में परिवर्तन होना नितांत स्वाभाविक है। मूल निवासियों की योग, तत्व की साधना और नियम से जकड़े रहने की प्रवृत्ति को अप्राकृतिक बताते हुए वह कहते हैं—"......जीवन का स्रोत भी हमारा सूख गया। हम जीवित मृत हैं। हम साँस भी लेते हैं तो योग और वेदान्त की......हमारे हृदय में जो कुछ भी धड़कन बच रही है वह हमारे हृदय की नहीं जिसमें हमारे इस भौतिक शरीर का जल चक्कर काटता है वरन् उन विचारों और विश्वासों की...... जिन्हें हमने युगों से अपनी प्रकृति बदल देने के लिए अपना लिया है।"

किसी समय वह स्वयं प्रह्लाद की पत्नी मेनका पर अनुरक्त थे और बाद में उसे छोड़कर आश्रम में चले आए थे। मेनका जब सुमित्र और चन्द्रभागा का उल्लेख करते हुए उन दिनों की याद दिलाती है तो वह उसे संयत रहने के लिए कहते हैं। मेनका उनकी आत्म-विजय की प्रशंसा करते हुए कहती है कि हम दोनों प्रकृति को कुचलकर बड़े हुए हैं। इस पर वह लोक के लिए कभी-कभी प्रकृति का कुचलना आवश्यक बताते हुए कहते हैं—"मेरी ओर अपनी दृष्टि से न देखकर इसे आप लोक की दृष्टि से देखें। प्रकृति को कुचल कर मारकर कभी-कभी लोक के लिए उपयोगी बनना पड़ता है। हम दोनों की उपयोगिता इस रूप में बढ़ गई है।" आचार्य नर का चरित्र यहाँ के मूल निवासियों की उस विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है जो अपने ज्ञान और चारित्रिक महानता द्वारा विजेताओं को अपने वश में करके सांस्कृतिक समन्वय स्थापित करना चाहते हैं।

अभिनेयता की दृष्टि से विचार करने पर ऐसा लगता है कि यद्यपि नाटक के अभिनय में विशेष कठिनाई नहीं हो सकती, किन्तु विषय और वर्णन-शैली की गंभीरता को देखते हुए दर्शकों के लिए यह बहुत रोचक नहीं होगा। नाटक में तीन अंक हैं और प्रत्येक अंक में प्रायः किसी प्रश्न

पर पात्रों का वाद-विवाद और उनके तर्क ही प्रस्तुत किये गए हैं। आर्यों ने किस प्रकार यहाँ के मूल निवासियों को अपना गुरु माना, इसका नाटक में अत्यंत सुंदर चित्र प्रस्तुत किया गया है।

वत्सराज

'वत्सराज' नाटक मिश्र जी के ऐतिहासिक नाटकों की शृंखला में एक नूतन सृष्टि है। इस नाटक की रचना उदयन के चरित्र को लेकर की गई है।

कथानक—नाटक का कथानक भारतीय इतिहास के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण चरित्र पर आधारित है। उदयन का चरित्र संस्कृत के नाटककारों का प्रिय विषय रहा है। भास, कालिदास आदि कई नाटककारों ने उसे अपनाया है। आधुनिक युग में प्रसिद्ध नाटककार प्रसाद जी ने अजातशत्रु में उदयन का चरित्र भिन्न रूप से चित्रित किया है। इसमें उदयन धीर, प्रशान्त गुणों से युक्त होने की अपेक्षा विलासी पुरुष है जो पद्मावती जैसी साध्वी स्त्री तक का अपमान करता है। मिश्र जी का 'वत्सराज' पुरानी परिपाटी को ही अपनाकर चला है। 'अजातशत्रु' की ही भाँति बौद्ध तथा भारतीय संस्कृति का झगड़ा भी उन्हें प्रसाद से मिला है, किन्तु कुमार का बौद्ध भिक्षु होना, उदयन का भारतीय संस्कृति तथा आश्रम धर्म के प्रतिपादक के रूप में उपस्थित होना और उसे भारतीय आदर्श के अनुकूल संयमी दिखाना मिश्र जी की अपनी विशेषता है।

कथानक का प्रारम्भ अवन्ती नरेश के प्रासाद गर्भ के बन्दीगृह से होता है, जहाँ वसंतक और उदयन वासवदत्ता की चर्चा कर रहे हैं। वसंतक, उदयन के सौन्दर्य तथा पुरुषार्थ की व्याख्या कर उसे अपने समय का सबसे सुन्दर पुरुष कहता है जिस पर कुमारियाँ अनुरक्त हैं। वासवदत्ता भी उनमें से एक है जिस पर स्वतः उदयन भी अनुरक्त है। वह उसे वीणा-वादन सिखाता है और उसी की तन्मयता में दोनों का प्रेम तीव्रता से आगे बढ़ता है। महासेन उसी बन्दीगृह की गुप्त खिड़की से दोनों की प्रेम-क्रीड़ाएँ

प्रमोदवन में देख सुखी होते हैं, और उन दोनों के विवाह का निश्चय करते हैं। वे स्वतः उदयन से उसे हरण कर लेने की गुप्त सलाह देते हैं और इस प्रकार उदयन पुरानी राजवंशीय परिपाटी के अनुसार पद्मावती का हरण करता है।

द्वितीय अंक में उदयन यवन दासी कांचनमाला से उसके अतीत का हाल पूछता है। बीच ही में वसंतक शाक्यकुमार सिद्धार्थ की युवा पत्नी गोपा और राहुल को छोड़ कर संयास लेने की घटना सुनाता है। इससे सभी चमत्कृत होते हैं। उदयन की दूसरी पत्नी पद्मावती अत्यन्त दुखी रहती है और इस घटना से वह और भी भयभीत हो विलाप करने लगती है। वासवदत्ता, उदयन से पद्मावती की उपेक्षा करने की शिकायत करती है तथा उसे पूर्णरूप से प्यार करने का वचन लेती है। वासवदत्ता के इस त्याग से उदयन को आश्चर्य होता है। उदयन, पद्मावती की चिंता को अपने प्यार से दूर कर उसे सान्त्वना प्रदान करता है। साथ ही उदयन और पद्मावती की कथा का भी प्रसंगवश नाटककार परिचय करा देता है।

तृतीय अंक में उदयन, वासवदत्ता तथा वसंतक राजप्रसाद में ही उपस्थित होते हैं। उदयन महात्मा बुद्ध के बढ़ते हुए प्रभाव तथा युवक, युवतियों की संन्यास लेने की प्रथा को देख कर चिंतित दिखायी देते हैं। वह आश्रम-व्यवस्था की इस दुर्दशा को देख कर बहुत दुखी है। स्वयं उनका पुत्र कुमार संन्यास ले लेता है जिससे सारा परिवार अत्यन्त दुखी है। इसी अवसर पर कौशाम्बी में महात्मा बुद्ध का आगमन होता है और उनके साथ ही कुमार भी आता है। यौगन्ध नारायण, महात्मा बुद्ध के पास जाते हैं और पिता की आज्ञा प्राप्त किये बिना, कुमार द्वारा संन्यास ग्रहण करने की बात कहते हैं। यह जान कर सिद्धार्थ, कुमार को उदयन के पास भेजते हैं। कुमार, पिता द्वारा राज्य छोड़ने का त्याग, देखकर व्याकुल हो उठता है। वह आश्रम-व्यवस्था को अपनाता है और अंत में राज्याभिषेक के अवसर पर उदयन द्वारा वासवदत्ता और पद्मावती की उपस्थिति में वीणावादन होता है।

कथोपकथन—कथोपकथन की दृष्टि से प्रस्तुत नाटक अत्यंत सफल है। लगभग समस्त कथोपकथन छोटे तथा सुन्दर वाक्यों से गठे हुए हैं। कहीं-कहीं एक दोष अवश्य खटकता है और वह है कथनों की पुनरुक्ति। एक ही सिद्धान्त वाक्य को दो, दो बार घुमा कर कहा गया है पर साथ ही इन कथनों का महत्व इसलिए विशेष हैं कि कहीं-कहीं वे भावी घटनाओं का सूत्रपात करते हैं। उदाहरण के लिए वासवदत्ता का यह कथन देखिए, "जिसके प्रेम में माता-पिता की ओर से मैंने मुँह फेरा......उसी के प्रेम में भावी सपत्नी का अनुग्रह भी लिया। अब मैं जाऊँगी अवन्ती।"

कथोपकथन सरल और सीधे हैं और उनमें हास्य तथा व्यंग्य की पर्याप्त मात्रा मिलती है। नाटक का प्रारम्भ ही हास्यमय वातावरण से होता है। उदयन, वसंतक को इंगित कर उसके पेटूपन का मजाक इन शब्दों में उड़ाता है, "हाँ, देख रहा हूँ। प्रतिहारी भोजन के क्या पदार्थ आज ले आयेगी और तुम किस तरह मुँह का पानी और जीभ का स्वाद रोक कर दनादन निगलने लगोगे।"

उदयन अपनी यवन दासी कांचनमाला से भी परिहास करता है। वह कांचनमाला से प्रश्न करता है, "तुम्हारी आयु कितनी हुई?"

कांचनमाला—"सत्रहवाँ वर्ष लग रहा है।"

उदयन—"तो इस आयु में......दिन में......जागती भी कुमारियाँ सपना देखती हैं और खड़े खड़े सो भी लेती हैं।"

कांचनमाला—"परिहास कर रहे हैं देव! भवति पद्मावती यहीं हैं ......सुन लेंगी तब......"

उदयन—"कुछ नहीं होगा। आँख तरेर कर तुम्हारी ओर देख लेंगी......"

कहीं-कहीं व्यंग्य, हास्य की सीमा को लाँघकर अत्यन्त तीक्ष्ण हो गये हैं। वसंतक भिक्षुणी कुमारियों का वर्णन करता है। उनकी समानता पर पद्मावती आश्चर्य प्रकट करती हुई कहती हैं, "हे भगवान! शरीर के अंगों का भेद भी मिट गया है?"

वसंतक, "गौतम का ज्ञान यही नहीं कर सका......किशोरी के वक्ष उनके ज्ञान से सपाट बराबर न हुए......नहीं तो फिर......"

व्यंग्य के उक्त-रूप के साथ ही साथ कहीं कहीं सुन्दर तर्कों के भी कथन मिलते हैं। उदयन कहता है, "भगवान रामचन्द्र वन में भी जानकी को साथ ले गए।" उसी के प्रत्युत्तर में व्याख्या करती हुई वासवदत्ता तर्क उपस्थित करती हैं, "उन्हें कर्म करने थे......कर्म की मूल प्रेरणा, पत्नी को वे साथ ले गए। गौतम को कर्म से भागना था.........वे गोपा से पहिले भागे।"

पात्र तथा चरित्र-चित्रण—पात्रों तथा उनके चारित्रिक विकास की दृष्टि से यह नाटक मिश्र जी के अन्य ऐतिहासिक नाटकों से अधिक सफल है, किन्तु स्थान-स्थान पर मनोवैज्ञानिकता का अभाव या विकास की अस्वाभाविकता खटकती है। वासवदत्ता उनकी ऐसी ही नारी पात्र है जो परम्परागत सपत्नीक ईर्षा से ऊपर उठ गई है। वह न केवल सपत्नी की ईर्षा का ही त्याग कर सकी है, वरन् अपने पति उदयन से आग्रह करती है कि वह अब उसका विचार छोड़ पद्मावती की ओर अधिक उन्मुख हो जो अस्वाभाविक लगता है। उदयन का पुरुषार्थी और संयमी होना उचित ही है, किन्तु उसका चरित्र इतना उठा दिया गया है कि वह वास्तव में मानवीय और विशेष रूप से राजाओं का चरित्र नहीं रह जाता। अन्य समस्त पात्र ऐतिहासिक ही हैं। नाटक का समस्त आधार उदयन का ही चरित्र है।

उदयन—नाटक का प्रारम्भ उदयन के बन्दी स्वरूप से होता है। वह धीर, उदात्त, संयमी, आदर्श गुणों से सम्पन्न उच्च कुल का प्रतिनिधित्व करने वाला, संस्कृत नाटकों की परम्परा अपना कर चलने वाला पात्र है। वह उन समस्त गुणों से सम्पन्न है जो एक आदर्श मानव में होने चाहिए। वह सखा के साथ सखा, पत्नी के साथ पति और नारी जाति का आदर करने वाला युवा पुरुष है।। परिस्थिति विशेष में राजनीतिक आवश्यकता के कारण वह दूसरा विवाह करता है, किन्तु उसका प्रेम अपनी पूर्व

पत्नी की ओर भी रहता है। पद्मावती को वह प्यार अवश्य करता है, किन्तु उतना स्नेह नहीं दे पाता जितना उसके लिए आवश्यक है। वह अपनी वंश-परम्परा को अमिट रखने वाला है चाहे उसे जितनी कठिनाई का सामना करना पड़े। एक स्थान पर वह वसंतक से कहता है, "राजा के लिए दया भी विकार है मित्र! महामात्य यही कहते हैं। फिर भी मैं महासेन से याचना करूँ उनकी कन्या के लिए.... अर्जुन के वंश में जन्म ले कर, जिनकी दो ही प्रतिज्ञा थीं—न दैन्यं न पलायनम्।"

वंश की परम्परा का पक्षपाती होने के साथ ही वह भावुक भी है, किन्तु उसकी भावुकता संयम की शृंखला में बद्ध है। वसंतक उससे कहता है, "तेईस वर्ष की आयु आपकी निकल गई और अभी तक किसी रमणी के आँख के तीर आपको न वेध सके, किसी रमणी की साँस आपको न बाँध सकी, किसी की वेणी का विष आप पर न चढ़ा...किसी के अधर... कपोल...यही विस्मय है देव!" यह होते हुए भी उदयन के हृदय में वासवदत्ता के प्रति प्रेम की जो दुर्बलता है उसे वह इस प्रकार व्यक्त करता है, मृगमद की गन्ध छिपती नहीं। वसंत की वासंती...जेठ की आधी रात में कोयल की कूक...शरद की चाँदनी रोके नहीं रुकती। राजकुमारी अपने प्रणय से मुझे धन्य करना चाहती है और अब मेरा मन भी उनमें रम गया है। पर महामात्य प्रणय में भी राजनीति का कूटचक्र जो चला रहे हैं। अपने प्रणय में भी मैं स्वतंत्र नहीं हूँ मित्र! इसमें भी पाण्डव कुल की मर्यादा और नीति-शास्त्र की...बेड़ी बन रही है।"

भावुक किन्तु संयमी युवक होने के साथ ही वह आदर्श कर्मयोगी राजा भी है। वह स्थान-स्थान पर दार्शनिक के रूप में सामने आता है। प्रेम की व्याख्या करते हुए वह वासवदत्ता से कहता है, "प्रणय विकार नहीं है प्रिये! प्रकृति का सबसे सात्विक धर्म यही है। इस धर्म से भागने वाले प्रकृति के धर्म से भाग रहे हैं। नर और नारी का आकर्षण न केवल मनुष्य योनि में ही...सभी जीव योनियों में है। जीव धर्म नहीं मिटेगा... मनुष्य के धर्म की मर्यादा मिटेगी।"

बौद्ध धर्म पर आर्य धर्म की श्रेष्ठता का वह प्रतिपादन करने वाला है। आश्रम-धर्म की श्रेष्ठता वह इस प्रकार व्यक्त करता है, "...और फिर पत्नी के साथ घर छोड़ कर पूर्ण संयास के पहले के अभ्यास........यह शास्त्रीय विधान मनुष्य की रक्षा के लिए ही बना था जिसे इस शाक्यमुनि ने एक ही धक्के में गिरा दिया। शास्त्रीय पद्धति में ऋषियों ने प्रकृति और सृष्टि के बन्धन बता कर.........हमारी प्रकृति के कर्मों को ही संयम और साधन से धर्म कहा। इस श्रमण विधान में मनुष्य अपनी प्रकृति के बन्धनों को तोड़ कर भाग रहा है।" आश्रम-व्यवस्था में अमिट विश्वास रखने के साथ ही वह गीता का अनुगमन करने वाला कर्मयोगी है। वह अपने मंत्री यौगन्धनारायण को कुमार के मोह से इन शब्दों द्वारा मुक्त कराना चाहता है, "गीता की अमृत वाणी तब आप भी भूल गये? फिर कुमार के आचरण से चिंता क्या? गौतम सब कुछ छोड़ कर निर्वाण में आसक्त हो रहे हैं... हमारे पूर्वज तो रण में भी आसक्त न रहे। शङ्कर की तरह इस विष को उठा कर पी जाइए......कुमार में भी आसक्त हम क्यों हों?" इतना ही नहीं वह गौतम और उसके धर्म की इस प्रकार भर्त्सना करता है, "मैं काल को निमंत्रित करता पर गौतम को नहीं। काल का धर्म मैं जानता हूँ...... गौतम का धर्म मेरी समझ में नहीं आता। जन्म लेने का ऋण भरने के लिए जन्म देना होता है...यहाँ गौतम किशोरों को सिर मुड़ा कर श्रमण बना रहे हैं।"

वासवदत्ता—वासवदत्ता भारतीय परम्परा की आदर्श नारी के रूप में चित्रित की गई है जो सुन्दरी होने के साथ ही साथ सर्वगुण सम्पन्न है। वह अपनी आयु के साथ ही प्रेम का वरदान भी पाती है। यौगन्ध नारायण द्वारा ज्योतिषी के रूप में वह उदयन के रूप और गुण का परिचय प्राप्त कर अनुरक्त होती है और वीणा-वादन सिखाने के लिए उसे आमंत्रित करती है। उदयन से अपने प्रेम की कहानी वह इन शब्दों में व्यक्त करती है, "...घोषवती के स्वर मेरे हृदय में बज कर उसी दिन दिगंत में बजे थे। माँ, वहीं बैठी थीं...आपका चित्र उन्होंने मुझे दिखा दिया...

चित्र तो दिया उन्होंने मुझे दूसरे दिन...पर उस रात मैं पलंग पर केवल करवट लेती रही...जिधर देखती वही चित्र दिखायी पड़ता था। पद्मावती के साथ मगध के राज भवन में दो महीने उसी चित्र के सहारे कट गये।"

वह भावुक नारी प्रेम में बँधी होने के साथ ही आदर्श भारतीय पतिव्रता भी है जो अपने पिता तथा बन्धु-बान्धवों को पति के लिए छोड़ देने को प्रस्तुत है। वह कहती है, "अपने भगवान के लिए...जिसके लिए मेरा जन्म हुआ। कन्या का जन्म होता है पति के लिए। पिता को छोड़ कर ही पति के चरण मिलते हैं।" पतिव्रता नारी के साथ ही वह विवेकी सपत्नी भी है जो सब कुछ त्याग करने को प्रस्तुत है। वह उदयन से पद्मावती के प्रेम की भिक्षा माँग उसकी ओर उसे उन्मुख करना चाहती है। वह उदयन से कहती है, "जिस अभाव को भरने के लिए वह उसे आँखों में लिए फिरती है, उसका वही अभाव भर दो। मुझे जितना दे चुके हो उसका अंश भर तो उसे दो।" इसी बात को और भी स्पष्ट करते हुए वह उदयन से कहती है, "आज दिन भर के उसके रोने से मेरा मन काँप रहा है। गौतम के चले जाने से गोपा का अभाव वह अपने भीतर देख रही है। उसे अब तुम अपना प्रणय दो। अपने प्रेम से भर दो। केवल विवाह करने से क्या हुआ ? उसे...तुम्हारा सम्पूर्ण प्रेम न मिला। उसे भी पुत्र दो आर्यपुत्र !"

वासवदत्ता पति-प्रेम पर गर्व करने वाली नारी है जिसमें पति के प्रति विश्वास, अचल अनुराग और अडिग निश्छलता है। वह सपत्नी इर्षालु नारी नहीं, वरन् सपत्नी के लिए अपने प्रेम का भी त्याग करने को तत्पर है। वह अपने विश्वास के बल पर गर्व से कहती है, "जानती थी मैं कि जब तक आर्यपुत्र मुझसे निराश न हो जायेंगे तब तक किसी दूसरी कुमारी की ओर आँख भी न उठायेंगे। पर अब जब यह हो गया...अब मैं केवल धर्म के अवसरों पर पत्नी का आसन लूँगी...अब तक जो मेरा रहा वह अब मैं पद्मावती को दे चुकी। मेरी किसी भी कामना को आर्यपुत्र ने भंग न किया, यह भी न भंग करेंगे।"

वह पूर्णतया विवेकी भारतीय नारी है। वह उदयन से कहती है, "राग और विराग परस्पर विरोधी नहीं एक दूसरे के पूरक हैं प्रभु! पति के प्रेम का फल पुत्र होता है। आपके पुण्य से मुझे मिला है। वही फल अब पद्मावती को मिले।" अन्य स्थान पर पद्मावती के चित्त में कुमार के प्रति विरक्ति उपजाती हुई वह कहती है, "किस बात पर चित्त ठौर छोड़ेगा आर्यपुत्र? पति-धर्म जब तक तुम्हारा बना है, देह के उस विकार के लिए हम दोनों क्यों रोयें? क्या करूँ मैं इस पगली को...तुम्हारे चरण हृदय से लगाकर देखें...उससे अधिक सुख पुत्र देगा?"

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि मिश्रजी के इस चरित्र-प्रधान ऐतिहासिक नाटक में बौद्धकालीन प्रतिक्रिया के फलस्वरूप दबे हुए उदयन का चरित्र फिर से निखर आया है। समस्त नाटक आद्योपान्त उदयन के तीन रूपों (युवक, राजा तथा विरागी) का परिचय कराता है। अभिनेयता की दृष्टि से नाटक सफल है। यह अवश्य है कि पुराने समय के प्रकोष्ठ तथा प्रमदवन आदि को रंगमच पर दिखलाना आसानी से सम्भव नहीं है। फिर भी, अन्य सभी दृष्टियों से नाटक पूर्णरूप से सफल है।

दशाश्वमेध

ईसा की तीसरी और चौथी शताब्दी का इतिहास भारशिव नागों का इतिहास है। इसी वंश-परंपरा में वीर सेन के अद्वितीय पौरुष तथा पराक्रम की कथा पर दशाश्वमेध नाटक आधारित है। ऐसा लेखक का स्वतः कथन है और वास्तव में उस घटना को ही मूल रूप में लेकर नाटककार को जो प्रेरणा प्राप्त हुई उसी का कलेवर नाटक का रूप ले सका है। जैसा कि नाटककार ने कहा है—"काशी का दशाश्वमेध घाट इनके अश्वमेध यज्ञ का भी प्रमाण है। काशी के इस घाट पर भाग्य से जब कभी मुझे जाने का अवसर मिला है विजयी वीर सेन का पराक्रम मेरी कल्पना को अनेक रंगों में रंगता रहा है।"[1] उसी कल्पना की एक रंगीन तूलिका

द्वारा तीन अंकों के इस सांस्कृतिक नाटक की रूप रेखा का निर्माण किया गया है।

नाटक की कथावस्तु—नाटक के प्रथम अंक का प्रारंभ देव पुत्र वासुदेव के राजभवन के प्रमोदवन से होता है। वासुदेव की पुत्री कौमुदी वहाँ वीणा वादन में तल्लीन है। इसी बीच उसकी यवन दासी नन्दिनी आती है और उन दोनों के वार्तालाप से यह स्पष्ट हो जाता है कि छत्रप अंगारिक, कौमुदी के रूप का भिखारी बन चुका है। कौमुदी को यह विदित है, किन्तु उसका हृदय दक्षिण के वीर वीर सेन पर अनुरक्त है। वीर सेन उदार, संयमी, बलिष्ठ युवक, नाटक का नायक है जो परंपरा से धीरोदात्त और धीर ललित गुणों से युक्त है। वीरसेन का चरित्र कौमुदी इन शब्दों में व्यक्त करती है—"याद है कितनी खुलकर......बालक सी निर्विकार हँसी थी उनकी। कौतुक में कोई भी उनके सामने न टिक सका, एक एक कुमारी को रंग से लाल कर दिया जिसने, पर जिसका मन किसी भी कुमारी को देखकर न हिला, किसी के रूप का सम्मोहन जिस पर न चढ़ा।

कौमुदी के विरह में व्याकुल छत्रप कुमार अंगारक उसे वीरसेन की ओर अनुरक्त देखकर प्रतिहिंसा की ज्वाला से व्याकुल हो उठता है। इसी प्रतिहिंसा से प्रेरित हो वह शंकर के मंदिर में उसकी हत्या का षड़यंत्र रचता है। यह षड़यंत्र विफल होता है और वीरसेन बच जाता है। दृश्य परिवर्तन के साथ ही अंगारक और वीरसेन, कौमुदी के सम्मुख आते हैं और वही पर द्वंद्व की प्रतिज्ञा होती है। अंत में यही निश्चित होता है कि जो द्वंद्व में विजयी होगा वही कौमुदी का वरण करेगा। वीरसेन देवपुत्र वासुदेव का राजभवन छोड़ विन्ध्याचल के अष्टभुजा के मंदिर में शपथ लेता है और वहीं गंगा के किनारे अंगारक और वीरसेन का द्वंद्व युद्ध होता है। अंगारक परास्त होकर वीरगति प्राप्त करता है। विजयी वीरसेन देवपुत्री के

१ दशाश्वमेध, भूमिका, पृष्ठ १७

समक्ष की गई अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वर्ष समाप्त होने पर पहुँच जाता है। काशी में गंगा के किनारे दोनों का गान्धर्व विवाह होता है और अश्वमेध का आयोजन किया जाता है। वीरसेन एक अश्वमेध कर लेने के उपरांत दस अश्वमेध और करने का संकल्प करता है जिसके परिणाम स्वरूप उस घाट का नाम दशाश्वमेध पड़ता है। अंत में वीरसेन, विश्वनाथ तथा विन्ध्यवासिनी के मंदिर की स्थापना का संकल्प करता है और इस प्रकार नर-नारियों के आशीर्वाद के साथ नाटक समाप्त होता है।

कथोपकथन—कथोपकथन की भाषा सरल, मुहावरेदार तथा गठी हुई है। इस नाटक की भाषा की एक अन्य विशेषता यह है कि इसमें अधिकतर पात्रों के अनुरूप ही शब्दों का चयन किया गया है। कहीं-कहीं नाटककार ने वार्तालाप के मध्य अच्छे विनोदी तर्कों का प्रयोग किया है—

"कौमुदी—कुछ नहीं···हर्ष भी कभी-कभी आघात करता है। वहाँ ऋत्विजों में घिरे शंकर की तरह देखकर मैं विवश हो गई···रोक न सकी अपने को·····

वीरसेन—भक्त को भगवान नहीं बनाते।

कौमुदी—भगवान बराबर भक्त को अपने बराबर बना लेते हैं।"

पात्र और चरित्र चित्रण—ऐतिहासिक नाटक होने के कारण नाटक में पात्रों का बाहुल्य है। नाटक के प्रमुख पात्रों में, वीरसेन (नायक), कौमुदी (नायिका) तथा अंगारक है। इन प्रमुख पात्रों को ही लेकर नाटक की कथावस्तु का विकास होता है।

वीरसेन—वीरसेन धीर, प्रशान्त और संयमी युवक है जो सदा परिस्थिति के अनुकूल ही चलने का प्रयत्न करता है। यद्यपि वह देव पुत्री का प्रणय प्राप्त कर लेता है फिर भी उसे स्वयं व्यक्त नहीं करता। इसका आभास हमें इस वार्तालाप से मिलता है—

कौमुदी—"मेरी ओर मन कुछ भी झुका था?"

वीरसेन—"उसे तो मैं यहीं छोड़ गया था············देवपुत्री के चरणों में।"

कौमुदी—"उस समय यह तनिक भी न प्रकट हुआ कठोर........।"

वीरसेन—"उस समय......उस समय देवपुत्री......तब तो यह बिना पंख के आकाश में उड़ना होता।"

वीरसेन के चरित्र में संयम तथा वीरता दोनों का अपूर्व सम्मिश्रण है। वह युद्ध क्षेत्र में जितना ही प्रबल है नारी के हृदय को खींचने में उतना ही समर्थ। उसके संयम तथा पटुता दोनों पर ही कौमुदी के ये शब्द प्रकाश डालते हैं—

कौमुदी—"किस कुमारी को नहीं जीत लिया उस एक ने......पर उसे कोई न जीत सकी......गोपियों का वह अकेला गोपाल......दक्षिण का यह साधारण नाग युवक......कितना बल है उसमें। आँखों में न लालसा है और न मन में कोई कामना। ऐसा ही रहा होगा वह गोपाल... इससे भी बड़ा।" इतना ही नहीं नारी उसी की ओर आकर्षित होती है जो पुरुषार्थी हो और जिसमें कठोरता तथा कोमलता का सम्मिश्रण हो। कौमुदी इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहती है, "कोमल को कठोर की चाह होती है यवन कन्या! और कठोर को कोमल की। प्रकृति में जिधर देखो यही बात मिलेगी।"

वीरसेन की प्रणय पटुता का आभास उसके इस कथन से मिलता है जिसमें वह ब्रजसेन से कुमारी के हृदय जीतने की कला इन शब्दों में व्यक्त करता है—मैंने इस हृदय को वज्र से भी कठोर कर लिया। कुमारियों के संकेत पर हँस भर देता था मैं। देवपुत्री ने कितने बहानों से मुझे अपने निकट रहने का अवसर दिया। जल विहार में नौका के पतवार पर मैं बैठाया गया......पर अंगारक जहाँ उन्हें आँखों से पी जाना चाहता था... मैं निर्लिप्त रहता था, कभी कभी पतवार से कूद कर ऐसी डुबकी लेता था कि देवपुत्री की धड़कन........मेरी मृत्यु की आशंका में बन्द होने लगती थी।"

पुरुष का आभूषण होता है उसका पुरुषार्थ और वीरत्व, और वह

वीरत्व केवल तलवार बाज़ी तक ही सीमित नहीं रहता, वरन् संयम की पूर्ण साधना भी चाहता है। वासना के आवेग को पुरुषार्थी ही रोक सकता है। कुमारी, वीरसेन के वीरत्व का विश्लेषण नन्दिनी से इन शब्दों में करती है—"इस देश का परम वीर वह है जिसके हृदय में कामदेव के वाण की पीड़ा नहीं होती और मनस्वी वह है जो कभी भी रमणी के कटाक्ष के मोह में न पड़े।" इतना ही नहीं संयम को पुरुष में वह उतना ही आवश्यक मानती है जितना कि भोगी के लिए "यहाँ जो योगी नहीं है वह पुरुष भी नहीं है।" पुरुष के लिए कुल जन्म की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी कि उसमें पुरुषार्थ की और इसी विचार को कौमुदी वीरसेन के लिए इस प्रकार व्यक्त करती है, "पुरुष का गुण उसके कुल और जन्म में न देखकर उसके पौरुष में देखो, नन्दिनी......देखो उसमें संयम है...... शील है......अपने हृदय का राजा वह है कि नहीं। जहाँ तहाँ घुटने नहीं टेकता वह। प्रेम की भीख माँगने वाला तो नहीं है वह, और सबसे अधिक वह अल्हड़ है कि नहीं? प्राण को हथेली पर लेकर चलने वाला...निर्विकार खुलकर हँसने वाला वह है कि नहीं?"

वीरसेन के दृढ़ तथा संयमी होने का आभास हमें उसके इन शब्दों से मिलता है—"दास वह है जो अपनी प्रवृत्ति न रोके......जो अपने हृदय पर अधिकार न रख सके।"

उपर्युक्त कथनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाटक का नायक वीरसेन वीर और संयमी होने के साथ ही अन्य उदात्त गुणों से युक्त है।

अंगारक—काशी का क्षत्रप कुषाण अंगारक नाटक में कौमुदी को लोलुप नेत्रों से देखता है जिनमें वासना की आँधी और लालसाओं का दुर्दान्त आवेग है। इतना ही नहीं वह प्रारंभ से ही ईर्षालु है। वीरसेन के प्रति उसकी ईर्षा और जलन की भावना इस कथन से व्यक्त होती है—"मुझे दिन में भी प्रसाद नहीं देती......और वह दास वीरसेन रात को भी देवपुत्री का कृपापात्र है। राह का यह काँटा आज निकल जाय तब फिर देखूँगा मेरा अपमान कैसे होता है? वासुदेव को मेरा प्रस्ताव

स्वीकार करना पड़ेगा।" उसमें नारी के कोमल हृदय पर विजय प्राप्त करने की न तो शक्ति है और न गुण। वह सहिष्णुता और संयम की अपेक्षा कूटनीति से कौमुदी को अपनी ओर आकर्षित करना चाहता है। उसका दाँव राजनीति की चाल है प्रेमी का कोमल पाश नहीं। उसकी यही मूर्खता अन्त में उसे कौमुदी से विमुख करा देती है। उसमें वीरत्व और पुरुषार्थ अवश्य है, किन्तु स्वार्थी, लोलुप और वासना से लिप्त होने के कारण कौमुदी उसकी उपेक्षा करती है। उसका पुरुषत्व नारी के चरणों में लोटता रहता है। उसके प्राण कौमुदी के मुट्ठी में रहते हैं जिसका उपहास कौमुदी इन शब्दों में करती है—"अंगारक पुरुष नहीं है, इसीलिए कि पहले योगी नहीं है। रमणी की आँखों से निकल कर कामदेव के बाण सीधे उनके हृदय पर पड़ते हैं और तब वे अनुराग के मद से अन्धे होकर पुरुष के शील और संयम दोनों को उड़ा देते हैं। कोई भी सुन्दरी उनके हृदय पर चरण रखकर चल सकती है।"

कुमार अंगारक वीर तो है, पर निस्वार्थ नहीं। उसमें सेवा की वह भावना नहीं जो वीरसेन में है। वह आत्मश्लाघा की भावना से ओत-प्रोत है जिसका परिचय हमें कौमुदी के ये शब्द देते हैं—"कुमार अंगारक अपने बल और रूप का लेखा बनाते रहते हैं। जहाँ देखो वहीं अपने गुण के प्रचार में वे लगे रहते हैं। काशी मण्डल की रक्षा वे अब तभी करेंगे जब तात उनका प्रस्ताव मानकर उन्हें अपनी कन्या का पुरस्कार देंगे। जिसकी तीन पीढ़ी अब तक हमारी सेवक रही उसका दम्भ तो देखो!"

वीरसेन भी उसकी नीचता तथा असंयम को ही कौमुदी के विमुख होने का कारण बताता है—"उनसे जितना अधिक मैं भागता रहा वे निकट आती गई और तुम उनके जितने निकट जाते रहे वे उतनी दूर होती रहीं···तुम समझते हो मेरे कारण से···मैं कहता हूँ तुम्हारे हृदय और असंयम की नीचता से।"

इस प्रकार प्रारंभ से लेकर अंत तक अंगारक प्रतिद्वंद्वी के रूप में ईर्षालु तथा ओछी भावनाओं से परिपूर्ण दिखायी देता है। उसमें वीरता

है, पर उदारता का अभाव है। उसका वीरत्व, कोमलता का परिहास करता है और यहाँ तक कि वह पुरुषोचित भद्रता का व्यवहार भी नहीं जानता। वह अपनी शक्ति में इतना मदान्ध हो गया है कि अपनी स्थिति को भी भूल जाता है। सब कुछ प्रयत्न करने पर भी जब वह कौमुदी को अपनी ओर आकर्षित करने में असफल होता है तो वह वीरसेन को लांछित करता है। इस प्रकार अंगारक का चरित्र असंयमी होने के साथ ही साथ स्वार्थपूर्ण और नीचता का है और इसी कारण कौमुदी उसकी उपेक्षा करती है।

कौमुदी—नाटक के नारी पात्रों में कौमुदी सबसे प्रमुख है। नाटककार ने उसमें महानता, सहनशीलता तथा उदारता आदि उच्च गुणों का समावेश कर उसका चरित्र अत्यंत प्रभावपूर्ण बना दिया है। प्रथम दृश्य से ही वह सुकोमल तथा भावपूर्ण नारी के रूप में हमारे सम्मुख आती है। प्रणय के क्षेत्र में वह कोमलता, भावुकता तथा कठोरता का अपूर्व सम्मिश्रण चाहती है। उसे ऐसे पुरुष की वांञ्छना है जो उसका दास नहीं, वरन् उसका स्वामी होकर रहे। वह उसी को पुरुष मानती है—"जिसके हृदय में कामदेव के बाण की पीड़ा नहीं होती और मनस्वी वह है जो कभी भी रमणी के कटाक्ष के मोह में न पड़े।" यह नहीं कि "कोई भी सुंदरी उसके हृदय पर चरण रखकर चल सकती है।" इन शब्दों में वह अपने इस विचार को और स्पष्ट करती है—"मुझे वह पुरुष चाहिए नन्दिनी! जिसकी परछाईं मैं बनूँ। पर जो पुरुष मेरी परछाईं बन गया, संयम और धैर्य का बाँध जिसका टूट गया······जिसे अब मैं जीत चुकी वह मेरा पति बनेगा? जिसकी परछाईं मैं बनूँगी······जो मुझे जीतकर विवश कर देगा······उसके कंठ की माला मेरी बाँहें बनेंगी।"

उसमें अपने जाति के प्रेम के साथ ही वीरता भी है। कनिष्क के दुर्ग छोड़ने के प्रस्ताव पर वह उसे उत्साहित कर सिंहद्वार पर लड़ने के लिए इस प्रकार प्रेरित करती है—"हम भागेंगे भाई, बिना लड़े। देवपुत्रों की कीर्ति क्या होगी तब?"

कौमुदी—"सैनिक भाग जायँ……पर हम भाई-बहन दुर्ग के सिंहद्वार पर लड़कर मरें।"

इतना ही नहीं पूर्वजों का आह्वान करके भी उसमें वीरत्व का संचार करने की भावना मिलती है—"किस महापुरुष का नाम तुमने धारण किया है……क्यों भूल रहे हो ? प्रपितामह कनिष्क जिन्होंने चीन के महान सम्राट का विरुद देवपुत्र धारण किया। चीनी सेनापति पान-चांग को हराकर जिन्होंने कितने चीनी राजकुमारों को बन्धक में रखा। कापिशी और पानसुक्ति में उनकी कथाएँ तुमने भी सुनी होगी।"

उसके चरित्र में उदारता की भी कमी नहीं। एक ओर जहाँ वह सद्गुणों को देख वीरसेन से प्रेम करती है तो दूसरी ओर यवन कन्या नन्दिनी को भी अपनी परिस्थिति के बदलते ही बहन के रूप में अपना लेती है—

कौमुदी—"नन्दिनी मैं! कहूँगी आर्यपुत्र से……"

नन्दिनी—"क्या कहेंगी?"

कौमुदी—"वे तुम पर भी कृपा करें……तुझे भी अपने चरणों में……तू मेरे साथ तब भी बनी रही जब मेरे सगे मुझे छोड़ कर चले गये। तुम अब मेरी बहन हो……दासी नहीं……जो कुछ मेरा वही तुम्हारा भी है। इस प्रकार पूरे नाटक में वह नारी के विभिन्न रूपों में हमारे सम्मुख आती है।

रंगमंच की दृष्टि से उपवन तथा राजभवन आदि दिखाने की योजना करना कठिन प्रतीत होता है। अभिनेयता के लिए भी पात्रों का चयन अधिक सुन्दर नहीं कहा जा सकता। कई स्थलों पर एक ही पात्र काफ़ी समय तक दर्शकों को उलझाये रखता है। पहले अंक का अधिकांश कौमुदी और नन्दिनी के वार्तालाप से, द्वितीय वीरसेन और बज्रसेन के वार्तालाप से तथा अंतिम अंक कौमुदी और नन्दिनी के कथोपकथन से ही सम्बद्ध है। ऐतिहासिक नाटक के रूप में यह एक सफल रचना है।

२. समस्या प्रधान सामाजिक तथा एकांकी नाटक

सामाजिक नाटक

यह कहना अनुचित न होगा कि हिन्दी में सामाजिक नाटक आधुनिक युग की देन हैं। वैसे तो सामाजिक नाटकों का आरम्भ प्रहसनों से हुआ है, किन्तु उनका परिष्कार और उचित विकास आधुनिक युग में ही हुआ। हमें आरम्भिक नाटकों में दो स्वतंत्र प्रणालियाँ मिलती हैं जिसमें एक प्रकार की रचनाओं का कथानक इतिहास से सम्बद्ध होता था और दूसरी प्रकार की रचनाओं का कथानक सामाजिक होते हुए भी मुख्यतः प्रहसन के रूप में होता था। इस प्रकार हिन्दी के सामाजिक नाटकों का विकास इन्हीं प्रहसनों से हुआ। आधुनिक युग में मिश्र जी ने पाश्चात्य नाटककारों की बुद्धिवादी विचारधारा और नाट्यशैली से प्रभावित होकर एक नवीन धारा को जन्म दिया। प्राचीन नाटकों की अपेक्षा जहाँ कल्पना और भावुकता का चित्रण ही प्रमुख था आपके अधिकांश नाटक समस्या-प्रधान रचनाएँ हैं जिनमें सामाजिक जीवन का वास्तविक और यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया गया है। यहाँ हम संक्षेप में मिश्र जी के सामाजिक तथा एकांकी नाटकों की आलोचना प्रस्तुत करते हैं।

संन्यासी

यह लेखक का प्रथम समस्या प्रधान नाटक है। समाज में सह-शिक्षा और उससे उत्पन्न स्वच्छन्दता के वातावरण की समस्याओं को इस नाटक में चित्रित किया गया है। पुस्तक के आरम्भ में ही नाटककार ने अपने आलोचक मित्रों के सम्मुख अपना निश्चित दृष्टिकोण उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। नाटककार ने अपनी विचारधारा

और पाश्चात्य नाट्यप्रणाली के प्रमुख भेद का भी सविस्तार उल्लेख किया है।

कथावस्तु—विश्वकान्त तथा मालती कालेज में सहपाठी हैं और एक दूसरे से प्रेम करते हैं। उनके अध्यापक रमाशंकर यह जानते हुए भी स्वयं मालती पर अनुरक्त हैं। ईर्षालु और सबल प्रतिद्वन्द्वी के रूप में वह हार मानने को तैयार नहीं। सुधाकर के सहयोग से षड़यंत्र रचकर वह विश्वकांत का 'रेस्टीकेशन' करा देते हैं। एक दिन मालती विश्वकांत के घर आती है। उसी समय अचानक मालती के पिता उमाकान्त और विश्वकांत के पिता माताप्रसाद यहाँ पहुँचते हैं। उन दोनों को एकान्त में इस प्रकार देख कर माता प्रसाद अत्यंत क्रोधित होते हैं और वह विश्वकांत से सदा के लिए सम्बंध-विच्छेद कर चल देते हैं। उमाकान्त (मालती के पिता) फिर भी मालती का विवाह विश्वकांत से कर देना चाहते हैं, किन्तु मुरलीधर के बहकाने में आकर विश्वकांत आजीवन देश सेवा का व्रत लेकर अविवाहित रहने का प्रण करता है। मालती यह जानकर उग्र होती है और अपनी उपेक्षा न सह सकने के कारण वह रमाशंकर से विवाह कर लेती है। विश्वकांत संन्यासी बन जाता है और वह 'एशियाई संघ' द्वारा देश और समाज की सेवा में लग जाता है। नाटक की अधिकारिक कथा इस प्रकार समाप्त होती है।

आधिकारिक कथा के साथ ही प्रासंगिक कथाओं में भी नाटककार ने समाज की अन्य समस्याओं का चित्रण किया है। शिक्षक वर्ग, पिता या वृद्धवर्ग के वास्तविक चित्र प्रस्तुत करने के उद्देश्य से इन प्रासंगिक कथाओं का निर्माण किया गया है। प्रथम वर्ग में तो रमाशंकर और दीननाथ हैं। दीनानथ वृद्ध होते हुए भी अपनी पुत्री के वय की स्त्री (किरणमयी) से विवाह करते हैं। विवाह द्वारा अपनी वासना की पूर्ति करना ही उनका एकमात्र ध्येय है। दूसरी ओर मुरलीधर जो हमारे सम्मुख आदर्शवादी, देश सेवी और सुधारक के रूप में आते हैं वह सदैव किरणमयी के प्रेम की आंतरिक पीड़ा से व्यथित रहते हैं। उनका यह प्रेम एकाकी नहीं और

किरणमयी भी उनसे प्रेम करती है, किन्तु समाज की व्यवस्था भंग करने की उनमें शक्ति नहीं और इसी कारण अंत में वे संन्यास ग्रहण करते हैं।

इस प्रकार कथानक में आद्योपान्त आधुनिक सामाजिक जीवन के चित्र उपस्थित किये गए हैं जिनमें नाटककार अधिकांशतः सफल है। उसने समाज की इन समस्याओं का यथार्थवादी चित्रण किया है।

कथोपकथन—नाटक के कथोपकथन सीधे, सरल तथा छोटे हैं। यद्यपि कहीं-कहीं वह उपदेशात्मक अवश्य हो गए हैं। कथोपकथनों की भाषा अत्यंत स्वाभाविक तथा पात्रों के अनुकूल है और इसी कारण प्रभावपूर्ण भी। उदाहरण के लिए युवकों के चरित्र का इस कथन में कितना स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत किया गया है—पहला—"क्या मालूम हो गया? इस बार मिसेज गुप्ता के ऊपर गेंदे का फूल पड़ा...दूसरी बार कदम्ब का पड़ेगा। दर्जे में जिस ओर परियाँ बैठेंगी—लड़के देखें होंगे। मुझे तो स्वयं उन बेचारों पर दया आती है, जो बिना किसी लाभ के प्यासी आँखों से उनकी ओर देखा करते हैं। मैं तो जब देखता हूँ तुम मालती की ओर ही देखा करते है।" कथोपकथनों में व्यंग्य तथा हास्य आदि का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग मिलता है।

पात्र और चरित्र-चित्रण—संन्यासी के पात्र प्रमुख रूप से शिक्षित तथा मध्यम वर्ग के हैं। विश्वकांत, रमाशंकर अहमद, मुरलीधर आदि साधारण मिडिल क्लास के पात्र हैं। पात्रों की संख्या भी अधिक नहीं है। विशेषरूप से विश्वकांत, मुरलीधर, मालती और किरणमयी ही नाटक को प्रभावित करते चलते हैं। दीनानाथ और रमाशंकर अधिकारिक कथावस्तु के जोड़ने की शृंखला मात्र हैं। यद्यपि रमाशंकर से मालती का विवाह करा कर नाटककार ने उसे प्रमुख पात्रों की कोटि में लाने का प्रयत्न किया है, पर वास्तव में नाटक की कथावस्तु पर उसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। नाटक का ध्येय है समाज के भावुक युवकों तथा सुधारकों का आन्तरिक दर्शन कराना। नाटककार का

मत है कि अपरिपक्वावस्था में विराग का मूल कारण बहुधा निराशा और असफलता ही रहती है। यहाँ हम संक्षेप में नाटक के प्रतिनिधि पात्रों का विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं—

विश्वकांत—विश्वकांत कालेज का विद्यार्थी तथा महत्वाकांक्षी युवक है। मानवीय दुर्बलताओं से युक्त यह युवक ही नाटक का नायक है। वह एक ओर मनस्वी है तो दूसरी ओर भावुक गीतकार। एक ओर समाजशाही का विरोध करने वाला क्रान्तिकारी सम्पादक तो दूसरी ओर अपने कौटुम्बिक जीवन के संघर्ष से भागने वाला। मालती के पिता के अनुरोध पर वह कहता है—

विश्वकांत—"किन्तु मैं अपने को बेंचना नहीं चाहता! माता—मरे—बहुत दिन हुए—याद नहीं पड़ता—पिता जी ने अपनी इच्छा से बन्धन काट दिया—अब कोई नया बन्धन नहीं चाहता! जो बात पहले असम्भव मालूम पड़ती थी—आज सुगम हो गई!"

उमानाथ—"कौन सी बात?"

विश्वकांत—"देश के लिए आत्म बलिदान।"

उमानाथ—"मुझे यही एक लड़की है—मेरे यहाँ रहना।"

विश्वकांत—(सिर हिलाकर) "नहीं-यह प्रलोभन न दीजिए! आशीर्वाद दीजिए मेरा व्रत सफल हो।" मालती के सम्मुख वह अपने हृदय की दुर्बलता को इस प्रकार व्यक्त करता है—"मैंने जो कुछ लिखा है कदाचित् सब मिथ्या है।"

मालती—"वही तो सच है। उसका सम्बंध तुम्हारी आत्मा से है। अत्मा के सुख के लिए, शरीर का सुख छोड़ दो।"

विश्वकांत—मेरी यह अवस्था विरक्ति के लिए नहीं।"

मालती—"विरक्ति के लिए कोई अवस्था निश्चित नहीं है—मनुष्य को जब ईश्वरीय प्रेरणा हो—"

विश्वकांत—सुनो [उसका हाथ पकड़कर अपनी ओर खींचता है]

मालती—[हाथ छुड़ाकर] "अब मुझे उस भाव से स्पर्श करोगे तो पाप होगा। व्रत-भंग का पाप-सोच लो....क्या कर रहे हो?"

प्रारंभ से लेकर अन्त तक वह अपने जीवन को परिस्थितियों के अनुकूल बनाने के प्रयास में लगा रहता है। उसके चरित्र में मौलिकता तथा दृढ़ता का अभाव है। वह सत्य की ओर से आँख मूँद कर आदर्श-वादी बनता है। उसे मुरलीधर तथा किरणमयी के प्रेम पर सन्देह तो हो जाता है किन्तु उसे मानवी दुर्बलता कहकर उड़ा देता है। उसके चरित्र के सम्बंध में मुरलीधर के ये शब्द प्रकाश डालते हैं—"मैं आज्ञा किस अधिकार से दूँगा? मैं अभी तक उसे नहीं समझ पाया। कभी-कभी तो वह अनुभव हीन बालक है, और कभी कभी दूरदर्शी मनस्वी। जब कविता लिखता है तो जैसे प्रेम और विरह की उसकी अनुभूति जाग पड़ती है, किन्तु जब व्याख्यान देता है मालूम होता है भूकम्प और उल्कापात होगा। इतना विलक्षण—"

वह हृदय से मालती को अत्यधिक प्यार करता है, किन्तु उस प्रेम के बीच में आने वाली बाधाओं का सामना करने की उसमें शक्ति नहीं। अहमद का यह कथन उसके वास्तविक चरित्र का उद्‌घाटन करता है—"नेकनामी नहीं चाहते तो बदनामी भी न चाहो। भाई! आँखें खोलो और देखो—तुम्हारी आत्मा के ऊपर तुम्हारे रक्त माँस की विजय हो रही है। तुम लोभ में पड़कर अपनी तपस्या छोड़ रहे हो। परिणाम अच्छा नहीं होगा। कुछ दिनों के लिए छुट्टी लेकर तबियत ठीक कर लो फिर लौट आना।"

मालती—मालती नाटक की नायिका है। नाटक के नारी पात्रों में मालती का चरित्र सबसे प्रभावपूर्ण है। नाटककार को पुरुष पात्रों की तुलना में नारी पात्रों के चारित्रिक विकास में अधिक सफलता प्राप्त हुई है। उसके चरित्र में मानवीय दुर्बलताओं का समावेश होते हुए भी वह साहस के साथ अपना मार्ग प्रशस्त करती है। वह कल्पना लोक की देवी नहीं वरन् हाड़-मांस की नारी है और वह साहस और बुद्धि द्वारा समस्त बाधाओं का सामना करती है।

मालती प्रारंभ में भावुक नारी के रूप में सामने आती है। वह विश्वकांत से प्रेम करती है। प्रणय के मार्ग में उसे किसी प्रकार का भय अथवा संकोच नहीं। विश्वकांत के प्रति अपने प्रेम को व्यक्त करने में भी वह नहीं हिचकती, विश्वकांत आजीवन अविवाहित रहने का प्रण लेकर जब उसके प्रणय की उपेक्षा करता है तो वह प्रतिहिंसा की भावना से उग्र हो उठती है। इसी भावना से प्रेरित होकर वह रमाशंकर से विवाह कर लेती है। प्रेम के सम्बंध में उसके विचार अत्यंत उच्च हैं और वह वासना मय प्रेम को अत्यंत घृणित समझती है। इसके साथ ही उसके प्रेम में त्याग की उच्च भावना भी प्रकट होती है—"इसलिए कि मेरे नारकीय प्रेम के कारण तुम अपने कर्तव्य से गिर रहे हो। जब पिता जी ने कहा था तभी तुमने मुझसे विवाह क्यों नहीं किया। हम दोनों के जीवन का जो सबसे सुंदर समय था—जब हम दोनों एक दूसरे के हृदय से लगे रहना चाहते थे...जब मेरी आराधना तुम करते थे और तुम्हारी मैं...लेकिन जाने दो यह तो मानी हुई बात है कि तुमने मुझे प्रेम किया था...इसलिए कि मैं सुंदर थी। मुझे याद है जब तुम मेरी ओर देखते थे तुम्हारा सारा शरीर केले के पत्ते की तरह थरथरा उठता था। हाँ, तो मैं सुंदर थी, शिक्षित थी, अच्छे घर की थी। मेरे पास वे सभी साधन थे जिनकी आड़ में बैठकर हम दोनों संसार की यातना और अशांति को भूल जाते। तुमने मुझे प्रेम किया था और मैंने भी तुम्हें प्रेम किया था। तुम्हारा वह कोमल शरीर, नशीली आँखे, तुम्हारे हृदय की बिजली, तुम्हारा वह सब जो मुझे पागल बना देता था। मुझे रात भर नींद नहीं आती थी·········मैं सोचा करती थी······मैं मरने लगती थी और तुम अंत समय आकर मुझे अपनी गोद में बैठा जाते, वह मरना कितना सुखमय होता। लेकिन हम लोगों के प्रेम का आधार वासना, जवानी की उपभोग की इच्छा······ईश्वर ने हम दोनों को बचा लिया।"[1]

१. संन्यासी, पृष्ठ १६०-१६१.

इतना ही नहीं वह एक अन्य स्थान पर कहती है "तुम्हीं बतलाओ हम लोग प्रेम करते थे किस लिए ? हम लोग उन लेखकों की पुस्तकें पढ़ते थे जिन्होंने रक्त-मांस की बुराई को—वासना या मोह को सुन्दर बनाकर हम लोगों का स्वर्ग बना दिया था। मैं तो उन लेखकों और उन चरित्रों से घृणा करती हूँ। कहीं कोई प्रेमी हाथ जोड़कर अपनी प्रेमिका से प्रेम की भीख माँग रहा है तो कहीं प्रेमिका घुटने टेक कर प्रेमी के सामने आँचल की फाँसी लगा रही है......जिस तरह भोजन या पानी बिना काम नहीं चल सकता—उसी तरह स्त्री या पुरुष बिना काम नहीं चल सकता......यह एक मर्ज़ है किसी को ज्यादा खाने का मर्ज़ होता है, तो किसी को ज्यादा पानी पीने का, और किसी को जवानी की इस बुराई का, जिसे लोग प्रेम कहते हैं।" यह सब होते हुए भी वह अपनी नारीगत दुर्बलता को रोक नहीं पाती। वह विश्वकांत से कहती है—"हाँ अब तुम मेरे देवता बन सकते हो......इस रूप में। मेरे शरीर की मुक्ति तो तुमसे मिल गई, लेकिन मेरी आत्मा ? कौन जाने......"[1] उसके इन कथनों से उसके चरित्र की संस्कारगत दुर्बलता प्रकट होती है।

किरणमयी—किरणमयी का आगमन नाटक में एक वृद्ध की पत्नी के रूप में होता है, जो न तो अपनी आकांक्षाओं को दबा सकती है और न अपनी प्रेम भावना पर अपने को उत्सर्ग ही कर सकती है। मुरलीधर का प्रेम उसे दीनानाथ की ओर से विमुख किये रहता है। उसका विवाह दीनानाथ के साथ केवल सामाजिक आड़ मात्र है जिसमें रहकर वह अपनी मुरलीधर के प्रति वासना पूर्ति कर सके। उसे सदैव यह चेतना बनी रहती है कि वह युवा एक वृद्ध को ब्याही गई तथा वह उसके लिए नहीं है—तो क्या तुम मुझे अपनी अवस्था की समझते थे ? मेरा अभी सत्रहवाँ...... ओफ छोड़ो, होठ दर्द करने लगा है।" एक अन्य स्थान पर दीनानाथ की वासना की निन्दा करते हुए वह कहती है—

१. संन्यासी, पृष्ठ—१६१-१६२.

किरणमयी—"मैं जब तुम्हें देखती हूँ ..."

दीनानाथ—"तब क्या होता है ?"

किरणमयी—"मुझे अपने पिता की याद पड़ती है।"

दीनानाथ—"तुम्हारे पिता की याद से और मुझसे क्या सम्बंध ?"

किरणमयी—"वे भी तुम्हारे ही तरह के थे। उनके भी तीन चौथाई बाल सफेद हो चुके थे।"

दीनानाथ—"खैर तुम चाहती क्या हो ?"

किरणमयी—"कोई समय नियत कर लो। अपने शरीर को लेकर तुम्हारी सेवा में हाजिर हो जाया करूँगी·········जो·············इच्छा हो·······"

दीनानाथ की वासना उसे सामाजिक विद्रोह से बचाये रखती है। इसीलिए वह उसे अपना पति मानती है—

दीनानाथ—"मैं नहीं मिलता तो गई होती किसी मज़दूर के पास··· तब सब यह शान"

किरणमयी—'अगर मज़दूर बुड्ढा नहीं होता तो बिना किसी शान के सुखी रहती। जहाँ कुछ नहीं वहाँ शान भी तो रहे—जीने के कुछ कारण होना चाहिए। मैं तो इसी शान के लिए जी रही हूँ। नहीं तो कब की मर गई होती।" इतना ही नहीं वह आगे और स्पष्ट करती है—"मेरी तबियत तुम्हारे साथ कैसे लग सकेगी—तुम्हीं सोचो मैं तुम्हें देखती हूँ तो पिता जी याद पड़ते हैं। लेकिन एक बात है मेरी तबियत कहीं भी किसी जगह भी नहीं लग सकती। मैं तो बहुत जल्दी ऊब जाती हूँ। लेकिन कहीं रहना तो पड़ेगा, इसलिये तुम्हारे साथ रहना ठीक है। समाज उँगली भी नहीं उठा सकेगा। हमारी और तुम्हारी इसी में भलाई है।"

आधुनिक बुद्धिवादी नारी होने के साथ ही वह कहीं-कहीं भावुकता में बहती हुई दिखायी देती है। मालती को विश्वकांत से विमुख होते देख वह कहती है—"यह समय छोड़ने का नहीं है। इस समय चिरन्तन नारीत्व ने पुरुष की अहमन्यता पर विजय प्राप्त की है। तुम्हारी विजय

हमारी विजय है—सारी स्त्री जाति……।" अन्त में उसके पुराने संस्कार स्पष्ट रूप से सामने आ जाते हैं। वह इन शब्दों में प्रेम की व्याख्या करती है—"मालती प्रेम एक जीवन का नहीं अनन्त जीवन का है। तुम उसकी अवहेलना कर रही हो—लेकिन याद रहे शायद तुम भी कभी अपनी भूल पर पछताओगी। स्त्री का हृदय सत्य प्रेम नहीं तो और क्या है? लेकिन मैंने यह कह दिया माफ़ करना। तुम समझती हो मैं दुनियाँ के लायक नहीं हूँ लेकिन मैं अपने लायक तो जरूर हूँ। तुम विश्वास नहीं करोगी लेकिन मुझे मालूम हो रहा है जैसे मेरा प्रेमी मेरे हृदय में आ बैठा है। उसे मैं निकाल नहीं सकती। वह मेरे भीतर ही बराबर रहेगा। इस जिन्दगी में दूसरी जिन्दगी में और जब कभी जन्म लूँगी वह बराबर रहेगा।" इस प्रकार किरणमयी का चरित्र प्राचीनता और नवीनता का सम्मिश्रण प्रस्तुत करता है।

अभिनेयता की दृष्टि से नाटक सफल है, किन्तु कहीं-कहीं कथोपकथन लम्बे अवश्य हो गए हैं। नाटक के कथानक का विकास और चरित्र-चित्रण अत्यंत स्वाभाविक और रोचक ढंग से किया गया है।

प्रस्तुत नाटक की आलोचना करते हुए श्री ब्रजरत्नदास ने लिखा है, "अशोक के अनंतर मिश्र जी ने दूसरा नाटक संन्यासी लिखा है, जो नारी-समस्या को लेकर चला है।……कथावस्तु का संगठन अच्छा हुआ है और चरित्र-चित्रण भी पात्रों के अनुकूल हुआ है।……नवीनता की दृष्टि से दृश्यों की संख्या बहुत कम कर दी गई है। एक ही अंक के भीतर अनेक दृश्य बदलते जाते हैं पर दृश्य-भेद नहीं किये गये हैं, केवल कोष्ठकों में इनकी सूचना देते हुए कमरे तथा पात्र आदि के शृंगार बतला दिये गए हैं। नाटक अभिनेय भी है और अच्छा बन पड़ा है।"

इस नाटक का उल्लेख करते हुए डा० सोमनाथ गुप्त ने लिखा है, "संन्यासी में दो समस्याएँ प्रधान हैं—एक है नारी की समस्या। स्त्री को अपने व्यक्तिगत विवाह-सम्बंध में, समाज में विचरण करने के लिए तथा संसार में अपना व्यक्तित्व बनाने के लिए क्या अधिकार मिलना चाहिए

और कैसे ? पुरुष का उस पर किस प्रकार का अधिकार होना चाहिए और क्यों ? मालती और किरणमयी की अवस्थाओं से उन्होंने इन पहलुओं पर प्रकाश डाला है। दीनानाथ, विश्वकांत और मुरलीधर आदि पुरुष व्यक्ति भी इसी में सम्मिलित हैं। सबने एक बार अपने जीवन की विगत घटनाओं को बुद्धिवाद और सांसारिक उपयोगितावाद की कसौटी पर तिसा है। वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि भावुकता एक आवरण है जिसे बुद्धि और विचारों द्वारा अलग कर देना चाहिए।"

राक्षस का मन्दिर

मिश्र जी ने नारी-समस्या को लेकर कई सामाजिक नाटकों की रचना की है। प्रस्तुत नाटक भी सामाजिक जीवन की विषमताओं पर आधारित है।

कथावस्तु—नाटक की कथावस्तु आधुनिक सामाजिक जीवन की एक झाँकी है, जहाँ ऊँचे से ऊँचे घरों में भी वासना के दुर्दान्त नृत्य होते हैं। नाटक का प्रारम्भ रामलाल वकील के लड़के रघुनाथ के कमरे से होता है। वह अपने कमरे में गीत लिखने में व्यस्त है। इसी बीच सहसा अश्गरी प्रवेश करती है। वह रघुनाथ से अपनी वासना पूर्ति चाहती है। वह कहती है, "चलो मैं तुम्हारी तबियत ठीक कर दूँगी......उसकी दवा मेरे पास है।" रघुनाथ उसकी अपेक्षा करता हुआ कहता है, "इसका मतलब ? तुम मेरे बाप की......मेरे सामने हो......तुमसे मैं कई बार कह चुका हूँ......तुम अपनी आदत नहीं छोड़ती हो। मेरी जिन्दगी क्यों खराब करोगी ? तुम्हारी ओर मैं......उस नजर से देखूँगा ? है तुम्हें उम्मीद ?"[१] नारी की उपेक्षा का फल उसे मिल जाता है। अश्गरी, रामलाल के सम्मुख अपना भाव बदल कर रघुनाथ को दोषी ठहराती है। रामलाल उसका कथन सत्य मानकर अत्यन्त क्रोधित होते हैं और वह उसे घर से निकाल देते हैं।

इसी अवसर पर रामलाल का पूर्व परिचित मुनीश्वर, मनोहर के वेश में यहाँ आता है। वह अपनी पत्नी तथा एक वर्ष के पुत्र को छोड़ चुका

१. 'राक्षस का मन्दिर', पृ० ३

है। वास्तव में वह भी अश्गरी के प्रेम और वासना का शिकार हो चुका है। वह स्वच्छन्दतावाद का मानने वाला है और समाज के कोई भी नियम उसे मान्य नहीं। वह अपनी वासना की पूर्ति और अपनी दुर्बलताओं से खुलकर खेलना चाहता है। वह अश्गरी का आलिङ्गन करता है और उसी समय रामलाल प्रवेश करते हैं। रामलाल उसे लांछित करते हैं, किन्तु वह नारी-दुर्बलता का सहारा लेकर अपने कृत्य का समर्थन करता है। इस सबसे रामलाल को विरक्ति होती है और वह शराब तथा अन्य सभी बुराइयों को त्याग देते हैं। रामलाल के इस आकस्मिक परिवर्तन से अश्गरी उन्हें छोड़ कर चली जाती है।

द्वितीय अंक में ललिता का प्रवेश कर नाटककार कथानक का विकास करता है। ललिता आधुनिक युग की शिक्षित नारी है। भावुक होते हुए भी वह पुराने संस्कारों से बँधी है। वह रघुनाथ की कवि-प्रतिभा देख उस पर अनुरक्त होती है। अश्गरी जो उसीके यहाँ ठहरी है उसके इस भाव को समझ जाती है। वह ईश्वर से दोनों के लिए मङ्गल-कामना करती है। ललिता को जब रघुनाथ द्वारा अश्गरी के मुसलमान होने का पता लगता है तो उसका तिरस्कार कर उसे अपने यहाँ से निकाल देती है। इससे रघुनाथ को क्षोभ होता है और उसके प्रेम तथा अपनी आंतरिक सहानुभूति को दबाकर चला जाता है। इस सबसे अश्गरी भी पूर्ण रूप से विरक्त हो जाती है। वह मानवता की पुजारिन हो जाती है और आन्तरिक कल्मष के विलीनीकरण में ही वह सब धर्मों का मूल मानने लगती है।

अंतिम अंक में नाटककार घटनाओं को धीरे धीरे सुलझाते हुए कथानक को अग्रसर करता है। मुनीश्वर (राक्षस) द्वारा 'मातृ-मंदिर' की स्थापना होती है। 'मातृ-मन्दिर' विधवा आश्रम है जिसमें मुनीश्वर, रघुनाथ के पिता रामलाल को बहकाकर तथा अश्गरी को उसका व्यवस्थापक बनाने के वायदे की आड़ में उनकी सारी जायदाद लगा देता है। रघुनाथ दर-दर का भिखारी बन जाता है। वह प्रतिहिंसा की भावना से निरंतर व्याकुल रहता है और उसके लिए प्रमाण आदि खोजता रहता है। ललिता

'मातृ-मन्दिर' के उद्घाटन के लिए आती है। ऐसा प्रतीति होता है कि वह रघुनाथ की सहानुभूति के ही लिए दस हजार रुपया 'मातृ-मन्दिर' को प्रदान करती है। इतने पर भी ललिता जब अपने प्रेम के प्रति रघुनाथ की उपेक्षा देखती है तो वह दुखी हो समाज-सेवा से विमुख हो जाती है। रघुनाथ भी वैर भाव भूलकर 'मातृ-मन्दिर' छोड़कर कहीं चल देता है। अंत में अशगरी, मुनीश्वर के साथ सह-समाज सेविका बन उसी 'मातृ-मन्दिर' की सेवा द्वारा नारी-सेवा का व्रत लेती है। इस प्रकार राक्षस की पूर्व असद्वृत्तियों को दबा कर उसे समाज सेवा द्वारा सद्वृत्तियों में लगाना ही 'राक्षस के मन्दिर' का ध्येय दिखायी देता है। वह ध्येय पूर्ण हो जाता है और यहीं नाटक समाप्त होता है।

कथोपकथन—कथोपकथन की दृष्टि से नाटककार की यह रचना बहुत उत्कृष्ट नहीं कही जा सकती। अधिकांश कथोपकथन बहुत लंबे हो गये हैं। उन स्थलों पर विशेष रूप से जहाँ नाटककार पात्रों द्वारा अपना जीवन दर्शन देना चाहता है, यह दोष स्पष्ट हो जाता है। कहीं कहीं आजकल की प्रचलित अंगरेजी तथा हिन्दी मिश्रित भाषा के प्रचार के कारण केवल अंगरेजी का ही प्रयोग कराया गया है। उदाहरण के लिए एक स्थान पर रघुनाथ, ललिता से कहता है, "Too much aggressive"[1] अंगरेजी का इस प्रकार प्रयोग कथोपकथनों को सर्वसाधारण के लिए दुरुह बना देता है और वह अस्वाभाविक भी लगने लगते हैं। कहीं-कहीं कथोपकथन इतने लम्बे हो गये हैं कि वह एक भाषण या उपदेश से दिखायी देते हैं। उनमें वार्तालाप की स्वाभाविकता नहीं रहती जो नाटकीय कथोपकथन का आवश्क गुण है।

नाटक में व्यंग्य और हास्य के कई अच्छे उदाहरण मिलते हैं। व्यंग्यमय हास्य का यह कथन देखिए—रामलाल—"नहीं वैसे नहीं—मैं आगे बढ़ूँगा और तुम कोसों पीछे हटोगे। तुम हटते ही जाओगे......आगे नहीं बढ़ोगे......तुम्हें जहाँ पहुँचना था, वहाँ नहीं पहुँचोगे।"

१. 'राक्षस का मन्दिर', पृ० ७२

मुनीश्वर—"एवमस्तु, आप आगे को बढ़िये, मैं पीछे को—दुनिया गोल है—किसी न किसी दिन मिल जायेंगे।"[1]

पात्र तथा चरित्र-चित्रण—मिश्र जी के अन्य नाटकों की अपेक्षा इसमें पात्रों की संख्या अधिक है और इसलिए कथानक के निर्वाह तथा पात्रों के चारित्रिक विकास में वह अधिक न्याय नहीं कर सके हैं। नाटक को आद्योपान्त पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि नाटककार सारे समाज का ही एक चित्र उपस्थित करना चहता है जिसमें सभी वर्गों के प्रतिनिधि पात्रों का समावेश हो। इसी कारण विशेष रूप से नाटक के पात्रों की आंतरिक वृत्तियों के प्रकाशन की अपेक्षा बाह्य वर्णन ही अधिक हो सका है। भवानी दयाल, सेठ दौलतराम, मुन्नी तथा सुखिया तो ऐसे पात्र हैं जिनका समावेश बिना किये हुए भी नाटक की कार्यावस्थाएँ भली प्रकार चल सकती थीं। ऐसा जान पड़ता है कि नाटककार इस वर्ग का भी प्रतिनिधित्व कराना चाहता था और इसी कारण इन पात्रों का नाटक में समावेश किया गया है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से हम उन्हीं चरित्रों का अध्ययन करेंगे जिनमें नाटक की कथावस्तु विशेष रूप से निहित है। इस दृष्टि से मुनीश्वर अश्गरी, रघुनाथ तथा ललिता प्रमुख पात्र हैं। इनको हम नाटक के प्रतिनिधि चरित्र भी कह सकते हैं।

मुनीश्वर—नाटक का वह पात्र है जो नाटककार की दृष्टि में आधुनिक बुद्धिवादी व्याख्या लेकर सभी वस्तुओं के बुद्धि की कसौटी पर कसता है। वह पूर्ण रूप से स्वच्छन्दतावाद का पुजारी है, किन्तु उसकी यह स्वच्छन्दता मानवीय न होकर दानवी है। वह दूसरों को जिन वस्तुओं से घृणा करने का उपदेश देता है स्वयं उन्हीं में लिप्त दिखायी देता है। वह रामलाल के सम्मुख अपनी विचारधारा इन शब्दों में स्पष्ट करता है, कुछ नहीं! चुपचाप......मौज-आनन्द, जो तबियत चाहे......जब......जिस समय......"

१. 'राक्षस का मन्दिर', पृ० ७२

रामलाल—"यह तो तुम मनुष्यता की प्रारम्भिक भाषा बोल रहे हो।"

मुनीश्वर—"जो हो। मैं तो दिल से चाहता हूँ—मनुष्य की वही प्रारम्भिक जिन्दगी फिर लौट आती। न कोई बन्धन न कोई चिन्ता। न धर्म, न सदाचार, न कानून न क्रान्ति। भेद-भाव का नाम नहीं......सब कुछ एक रस......स्वरूप एक में, जहाँ न पितृ धर्म है—न मातृ धर्म—न पत्नी धर्म—न पति धर्म। जहाँ कर्तव्य है, न आदर्श।"

मुनीश्वर की मानवता की परिभाषा भी पाशविक कृत्यों तथा दुर्बलताओं का समाहार मात्र ही है। वह एक ओर पशु है और दूसरी ओर देवता। उसके बीच में कुछ नहीं। एक स्थान पर वह रामलाल से कहता है, "हाँ, हाँ अब आपने समझा। आप जिसे आदमी कहते हैं—वह या तो राक्षस है या देवता। आदमी ऐसी चीज न है, न थी, न होगी।" यथार्थवादी भौतिक दृष्टिकोण के साथ ही वह स्थान-स्थान पर भावुक आदर्शवादी हो जाता है। अपनी पत्नी दुर्गा से वह कहता है, "देखो दुर्गा, अपने पत्नीत्व को भूल जाओ—मातृत्व का ख्याल करो। ईश्वर ने तुम्हें पुत्र दिया है—तुम्हें जीने के साधन की कमी नहीं है। मैंने तुम्हें छोड़ दिया......तो छोड़ दिया। तुम देवी हो—मैं राक्षस हूँ। तुम अपना धर्म जानती हो......उसके अनुसार चलती हो। मैं पता नहीं किस लहर में बहा जा रहा हूँ। जो जी चाहता है कर बैठता हूँ—धर्म, अधर्म—स्वर्ग—नरक की परवाह नहीं करता......"

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि मुनीश्वर आधुनिक सभ्यता के उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाला पात्र है जो खाओ-पीओ मस्त रहो के सिद्धान्त को तो मानता ही है साथ ही शारीरिक इच्छा-पूर्ति के लिए वह सभी साधनों को उपयोग में ला सकता है। उसके सम्मुख न तो पाप है और न पुण्य, न कुछ भला है और न बुरा। पाप तथा पुण्य की परिभाषा भी वह अश्गरी के सम्मुख इन शब्दों में करता है, "पागल! पाप किसे कहते हैं? पाप......दुनिया इसी से है नहीं तो फिर यह स्वर्ग हो जाय।

यह कभी स्वर्ग होगी नहीं..... मैं तो पाप को ही......जिन्दगी में जो चीज़ सबसे सुन्दर है—उसी को पाप कहते हैं। दुनिया को वही समझ सकते हैं—जो पाप को समझे ? पाप को सजा दो......स्वर्ग और नरक कहीं नहीं रहेगा। स्वर्ग और नरक लड़कों के खेल हैं।"

अश्गरी—भारतीय पतित समाज (वेश्या जाति) की है जो रामलाल के यहाँ आती है। वासना की दुर्दान्त आँधी जब उसमें सजग होती है तो वह नारी के स्वरूप तथा उसके अस्तित्व को पहचानती है और उसके शमन के लिए कोई न कोई पुरुष ढूँढ़ती है। वह रघुनाथ को इसका शिकार बनाना चाहती है, किन्तु वह उसको अपने पिता के लिए कह कर उसकी उपेक्षा करता है ! मुनीश्वर पर वह अपना पूरा प्रभुत्व जमा लेती है और फिर वासना जाग्रत होने पर वह उसकी पूर्ति के लिए इतनी पतित हो जाती है कि रामलाल को मार्ग से हटाने के लिए जहर तक देने में उसे कोई हिचक नहीं होती। वह मुनीश्वर से कहती है, "कहो तो मैं उन्हें जहर......" समय बीतने पर उसकी आँखे खुलती हैं और वह पश्चात्ताप करती है जिसे वह स्पष्ट रूप से ललिता के सामने एक कहानी के रूप में उपस्थित करती है।

प्रायश्चित द्वारा उसके हृदय में ममता और सद्वृत्तियों का विकास होता है। वह रघुनाथ से कहती है, "रघुनाथ बाबू, मैं जहाँ पहुँच चुकी हूँ वहाँ से यह दुनिय क्या कहूँ आप इसे मेरा पागलपन समझेंगे। यह दुनिया कितनी नाचीज़ है। मैं इसके सभी कामों में रह सकती हूँ लेकिन हमेशा ऊपर ! मेरे भगवान् मुझे मुक्ति दे सकेंगे और कोई तरीका नहीं। आप को इसी दुनिया के साथ समझौता करना चाहिए।"

इस प्रकार अश्गरी का चरित्र एक अत्यन्त पतित तथा वासनामयी नारी से उठा कर सेवा और समानता की उच्चता द्वारा 'बसुधैवकुटम्बकम्' के आदर्श तक पहुँचा देता है। उसका चरित्र विकासोन्मुख तथा उज्वल है। उसमें नारीत्व के त्यागमयी भावना की चिरंतन साधना है।

रघुनाथ—रघुनाथ दुखी, भावुक तथा कवि-हृदय व्यक्ति है।

स्थानाऔचित्य का उसे ज्ञान तो है, पर वह भावना के प्रवाह में बहता रहता है। वह मूक प्रेमी है और रात-रात भर जाग कर कविता करता रहता है। प्रेयसी के मिलन की प्रत्याशा मात्र से उसकी कविता जाग्रत होती है। अश्गरी जब उससे अपना घृणित प्रस्ताव करती है तो वह उसे वेश्या जानते हुए भी उसको अपने पिता के ही लिए उपयुक्त कह कर उसकी उपेक्षा करता है। मुनीश्वर द्वारा पिता की सारी सम्पत्ति आश्रम के लिए ले लिये जाने पर वह प्रतिहिंसा की अग्नि से जल तो उठता है पर उसमें प्रतिक्रिया की हिंसामयी भावना नहीं है।

अत्यधिक भावुक होने के कारण वह अपनी विपत्तियों से इतना निराश हो जाता है कि उसे समस्त मानव समाज ही धोखेबाज दिखायी देता है। ललिता के सम्मुख देवत्व और मनुजत्व की वह इन शब्दों में व्याख्या करता है, "मनुष्यता का कोई नाता होता है? मनुष्यता के नाते से मेरे पिता जी ने एक पिशाच को अपने साथ परिचय बढ़ाने दिया—उसका नतीजा हुआ......उसने उनका भी सर्वनाश किया और मेरा भी खैर, वे तो मर गये लेकिन मैं......मैं भी ......मनुष्य का......नाता? संसार में सबसे बड़ा अत्याचार और पाप दो ही चीजों के लिए हुए हैं—ईश्वर के लिए और इस मनुष्य के लिए। ईश्वर के लिए लोग जलाये गए और मारे गए—मनुष्य के लिए लोगों की स्वतंत्रता छीनी गई—लोग भटकेंगे—दुनिया गुलाम बनी। लेकिन यह भ्रम कितना महान है।"

ललिता—आधुनिक युग की शिक्षित नारी होते हुए भी वह अपनी धार्मिक संकीर्णता नहीं छोड़ पाती है। वह भावुक तो है पर यथार्थ से आँख नहीं मूँदती। लज्जा और शर्म में उसका विश्वास नहीं और वह जीवन का खुल कर आनन्द लेना चाहती है। अश्गरी की प्रेम-कहानी वह बड़ी रुचि से सुनती है। वह स्वयं रघुनाथ से प्रेम करती है। रघुनाथ द्वारा अपने को अकिंचन कहने पर वह उसका प्रतिवाद इन शब्दों में करती है, "यह बात बहस करने की है......यही तो आत्मा

का स्वर्ग है......विश्वास की विभूति है......जीवन का संगीत है। यह तो है...है।"

ललिता अपने प्रेम को सफल न होते देख और उसकी उपेक्षा किये जाने पर उग्र होने के साथ ही साथ दार्शनिक बन जाती है। रघुनाथ की उपेक्षा का उत्तर वह इन शब्दों में देती है, "बस चुप रहिए, अब मैं आपको क्षमा करती हूँ—एक दिन, एक वर्ष के लिए नहीं, सारी जिन्दगी के लिए। मैं दूर हूँ......ठीक है मुझे दूर रहना ही चाहिए। आप क्या समझते हैं, मै आप का चरण पकड़ कर रोने लगूँगी। प्रेम की भिक्षा नहीं माँगी जाती महाशय! बिल्ली से चूहा खेलते ही खेलते मर जाता है—वही हालत आप मेरी करना चाहते हैं। आप से मैं दूर तो बहुत हूँ—लेकिन इस तरह घबड़ा क्यों रहे हैं? गला बार बार भर क्यों जाता है? धोखा मुझे भी और अपने को भी! आप निश्चिन्त रहिए मैं इस प्रवृत्ति को दबाऊँगी, अब फिर कभी आपको इस बात की शिकायत न होगी।"

ललिता के हृदय में छिपी वासना के पीछे केवल वासना का ही नर्तन नहीं वरन् मातृत्व की कोमल भावना भी है। वह रघुनाथ से कहती है, "इतना भी नहीं समझे? सहानुभूति और सम्मान से याद रखूँगी। वहाँ वह बात न होगी जिसके कारण एक बार देख लेने से या स्वर सुन लेने से हृदय काँप उठता था.......मैं सब कुछ भूल जाती थी। मेरा नारीत्व जाग कर पत्नीत्व की ओर झुकना चाहता था।"

अभिनेयता की दृष्टि से यह नाटक भारतीय रंगमंच के लिए अधिक उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। स्टेज पर नदी में नाव आदि का दिखाना कठिन है। इसके साथ ही पात्रों की बहुलता भी नाटक को अभिनीत करने में अड़चन उपस्थित करती हैं। विशेष रूप से नाटक के तृतीय अंक में दो-तीन नागरिकों के रूप में युवकों की बातचीत तथा उसके पीछे दार्शनिक तथा सामाजिक वाद-विवाद अभिनय के लिए अधिक उपयुक्त नहीं जान पड़ते। सामाजिक विषमताओं का वास्तविक चित्र उपस्थित करने में नाटककार को यथेष्ट सफलता मिली है।

मुक्ति का रहस्य

लेखक के सामाजिक नाटकों की शृंखला में यह एक महत्वपूर्ण नाटक है। इस नाटक में लेखक ने समाज का वास्तविक और यथार्थ-वादी चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। उनका बुद्धिवादी दृष्टिकोण कोरा तर्क नहीं, वरन् वह कसौटी है जहाँ सत्य, धर्माचरण तथा पवित्रता को खरा रूप प्रदान किया जाता है और उसमें किसी प्रकार के लगाव लपटाव की आवश्यकता नहीं रहती। लेखक पाप और पुण्य की परिभाषा, अच्छे और बुरे की व्याख्या यथार्थ के निरूपण में ही मानता है।

कथावस्तु—नाटक का प्रारंभ उमाशङ्कर के घर पर आशादेवी और डा० त्रिभुवन नाथ के वार्तालाप से होता है। आशादेवी और उमाशङ्कर एक दूसरे को हृदय से प्यार करते हैं, किन्तु उमाशङ्कर मौन प्रेमी है और वह अपने व्यवहार अथवा बातचीत मे कभी यह व्यक्त नहीं होने देता। आशादेवी यह सोचती है कि जब तक उमाशङ्कर की पत्नी जीवित है वह उन्हें पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं कर सकती। मार्ग की इस बाधा को हटाने के विचार से वह उमाशङ्कर के मित्र डा० त्रिभुवन नाथ से विष माँगती है और उसे उसकी पत्नी को पिला देती है जिससे उसकी मृत्यु हो जाती है। आशादेवी उमाशङ्कर के साथ उनके घर पर रहती है और इस कारण उमाशङ्कर के चाचा काशीनाथ उनसे अत्यंत क्रोधित होकर सम्बंध-विच्छेद कर लेते है।

डा० त्रिभुवन नाथ आशादेवी से अपनी वासना-पूर्ति करना चाहते हैं। आशादेवी जब उनके इस प्रस्ताव को क्रोधित होकर ठुकरा देती हैं तो वह उसके उस पत्र को जिसके द्वारा उसने विष मँगाया था, उमाशङ्कर को दिखला देने की धमकी देते हैं। आशादेवी को अन्य कोई मार्ग नहीं सूझता और वह विवश हो अपने को डा० त्रिभुवन नाथ की दया पर छोड़ देती है। डा० त्रिभुवन नाथ उससे अपनी वासना-पूर्ति करते हैं। आशादेवी के मन में पश्चात्ताप और ग्लानि उत्पन्न होती है। उसकी आत्म-ग्लानि इस सीमा तक पहुँच जाती है कि प्रायश्चित का कोई उपाय उसकी समझ में

नहीं आता और वह स्वयं विषपान कर लेती है। इसी अवसर पर डा० त्रिभुवन नाथ आते हैं। आशादेवी को इस हालत में देखकर वह उसे शीघ्र ही अस्पताल ले जाते हैं और इस प्रकार आशादेवी के प्राणों की रक्षा होती है। डा० त्रिभुवन नाथ यह समझकर कि उनके कारण ही आशादेवी ने विषपान किया है अत्यंत दुखी होते हैं। वह अपने अपराध के लिए आशादेवी से क्षमा-याचना करते हैं। आशादेवी उनके कहती हैं कि अब वह उमाशंकर के योग्य नहीं रहीं और अपने इस अपराध के लिए क्षमा माँग कर अब हम दोनों साथ रहेंगे। उमाशंकर के सम्मुख आशादेवी अपराध स्वीकार कर उन्हें यह बता देती हैं कि उनकी पत्नी को उसने ही ज़हर दिया था और इसी कारण उसकी मृत्यु हुई। उमाशंकर यह जान कर भी उसे क्षमा कर देते हैं और उसके साथ आजीवन रहने की बात कहते हैं। इस पर आशादेवी अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहती हैं कि अब वह उनके योग्य नहीं रही। वह यह भी बता देती है कि उनकी पत्नी की मृत्यु के रहस्य को गुप्त रखने के लिए वह अपना शरीर डाक्टर को अर्पित कर चुकी हैं। उमाशंकर से वह कहती हैं—"तुम मेरे उपास्यदेव हो......तुम्हें छूने का भी अधिकार मुझे अब नहीं......और फिर अब मैं डाक्टर को प्रेम करने लगी हूँ। मेरे लिए वही पहले पुरुष......।" उमाशंकर यह सुनकर पहले तो भावावेश में डा० त्रिभुवन नाथ से इस विश्वासघात का प्रतिशोध लेने के लिए बढ़ते हैं, किन्तु आशादेवी के समझाने पर शान्त हो जाते हैं। अंत में वह आशादेवी को डा० त्रिभुवन नाथ से विवाह करने की अनुमति दे देते हैं। इस चरमोत्कर्ष में ही नाटक समाप्त होता है।

कथोपकथन—नाटक के कथोपकथन सरल, स्वाभाविक तथा प्रभावपूर्ण हैं। पात्रों के अनुकूल ही भाषा का प्रयोग किया गया है और इस कारण कथनों में विशेष बल है। कथोपकथन प्रायः छोटे और गठे हुए हैं। थोड़े से शब्दों में पात्र अपने मनोभावों को अत्यंत सुगमता से व्यक्त कर देते हैं। उनकी भाषा भी सरल और चलताऊ है। कथोपकथनों में

एक दोष जो प्रायः खटकता है वह है एक ही बात का दुहराना। गंभीर नाटक होने के कारण इसमें हास्य अथवा व्यंग्य के स्थल तो नहीं आते, किन्तु कहीं-कहीं सामाजिक रूढ़ियों के प्रति कटु आक्षेप अवश्य किये गए हैं। गीतों का न होना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उपयुक्त ही लगता है। नाटक में गीतों का अनावश्यक समावेश घटनाओं की गंभीरता नष्ट करने के साथ ही साथ अस्वाभाविक भी लगने लगता है। आवश्यकता पड़ने पर किसी पात्र के चरित्र, रुचि और उपयुक्त वातावरण के अनुसार गीतों की योजना उचित है। प्रस्तुत नाटक में गीतों का अभाव स्वाभाविक जान पड़ता है।

पात्र तथा चरित्र-चित्रण—नाटक के पात्रों की संख्या बहुत ही कम है। कुल मिलाकर छह पुरुष पात्र तथा एक स्त्री पात्र को लेकर नाटक की रचना की गई है। बेनीमाधव, काशीनाथ तथा देवकीनन्दन जैसे पात्र नाटक की कथावस्तु में कोई विशेष महत्व नहीं रखते और उनका समावेश केवल समाज के अन्य वर्गों की वास्तविक रूपरेखा प्रस्तुत करने के उद्देश्य से ही जान पड़ता है। इस प्रकार के प्रमुख पात्र केवल तीन हैं—उमाशंकर (नायक), डाक्टर त्रिभुवन नाथ (खल-नायक) तथा आशादेवी। पात्रों की संख्या कम होने के कारण नाटक की कथावस्तु में किसी प्रकार की जटिलता नहीं आने पाई है। यहाँ हम संक्षेप में नाटक के प्रमुख पात्रों के चारित्रिक विकास का अध्ययन करेंगे।

उमाशंकर—उमाशंकर का चरित्र देश-सेवक के रूप में चित्रित किया गया है। असहयोग आंदोलन में वह प्रोफेसरी छोड़ देते हैं। मिश्र जी की बौद्धिक विचारधारा का वह प्रतिनिधित्व करते हैं। वह समाज की रूढ़ियों के कट्टर विरोधी हैं। व्यक्ति की स्वतंत्रता और मौलिकता के सम्मुख समाज का व्यवधान वह नहीं मानते। अपनी इस विचारधारा को उमाशंकर बेनीमाधव के सम्मुख इस प्रकार व्यक्त करते हैं—"दुनिया या समाज अयँ? मैं हर एक बात को व्यक्ति की नज़र से देखता हूँ। दुनिया या समाज की नज़र से नहीं। व्यक्ति और समाज का द्वंद्व जहाँ कहीं हुआ है,

जब कभी हुआ है, यह सच है कि व्यक्ति को बराबर दुख उठाना पड़ा है, किन्तु यह भी सच है कि नैतिक विजय बराबर व्यक्ति की हुई है। तुम्हारी दुनिया या तुम्हारे समाज ने ईसा, कन्फ्यूसियस, सुकरात या मंसूर के साथ क्या किया था? तुम्हें खूब मालूम है। समाज के अगुआ उस समय भी यही सोचते थे कि वे उचित कर रहे हैं। मनुष्य जाति की दुखमय कहानी जिसे हम लोग इतिहास कहते हैं—इन्हीं बातों से भरा पड़ा है। "वह इतने से ही संतुष्ट नहीं होते, वरन् उस सामाजिक क्रांति का समर्थन करते हैं जिसमें समस्त पुरानी इमारत को नष्ट कर नयी नींव पर समाज का निर्माण किया गया हो! आशादेवी से वह अन्यत्र कहते हैं—"समाज परिवर्तन नहीं, क्रांति चाहता है। पुरानी इमारत की मरम्मत बहुत हुई—इतनी हुई कि अब उसमें दूसरी मरम्मत की जगह नहीं है। उसकी नींव हिल रही है—एक धक्का और साफ़। जो समाज की सच्ची भलाई चाहने वाले हैं उनका काम है कि इस कमजोर नींव पर एक भी नई ईंट न रखें उस पर और बोझ न लादें।"[1]

उमाशंकर, आशादेवी से मन ही मन प्यार करते हैं, किन्तु अपनी बातचीत अथवा व्यवहार से कभी यह व्यक्त नहीं होने देते। आशादेवी के सब कुछ प्रयत्न करने पर भी उमाशंकर के व्यवहार में कोई परिवर्तन नहीं होता। आशादेवी, उमाशंकर के चरित्र और संयम के सम्बंध में कहती हैं—"आश्चर्य क्या है?—मैं पहले कह चुकी हूँ वे देवता हैं। अगर वे मनुष्य होते—तब तो मैं इतने नीचे नहीं गिरती। मैं चाहती ही रह गई कि वे एक बार मेरी ओर देखकर मुस्करा दें—या एक बार मेरी कोई उँगली जरा सा भी दबा दें। उन्होंने ने मालूम कै बार मेरा हाथ पकड़ा होगा। मैं काँप उठती थी......लेकिन उन पर कोई असर नहीं......जैसे पत्थर के हाथ में मेरा हाथ हो। इसीलिए वे देवता हैं।"[2] प्रणय के क्षेत्र में उमाशंकर का यह मौन स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता, विशेषकर जब वह स्वयं

१. मुक्ति का रहस्य, पृष्ठ ४७-४८ २. मुक्ति का रहस्य, पृष्ठ १०४

मन ही मन आशादेवी से प्यार करते हैं और बाद में वह आशादेवी से कहते हैं—"लेकिन......मैं भी तुम्हें प्रेम"।[1] उमाशंकर के चरित्र की यह विशेषता स्वाभाविक नहीं प्रतीत होती।

आशादेवी जब बाद में उमाशंकर को यह बताती हैं कि उनकी पत्नी को उसने ज़हर दिया था और इसी से उसकी मृत्यु हुई तो वह उसे क्षमा कर देते हैं। उमाशंकर के चरित्र की यह महानता यहीं समाप्त नहीं होती, वरन् यह जानकर भी कि इस रहस्य को गुप्त रखने के लिए आशादेवी अपना शरीर डाक्टर त्रिभुवन नाथ को अर्पित कर चुकी हैं वह उसे उनके साथ विवाह करने की अनुमति प्रदान कर देते हैं।

उमाशंकर के चरित्र में उनका भाग्यवादी दृष्टिकोण खटकता है। जो व्यक्ति सामाजिक क्रांति और बुद्धिवादी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता हो वह दूसरी ओर भाग्य के सहारे की बात करे, यह उचित नहीं प्रतीत होता। एक स्थान पर वह आशादेवी से कहते हैं—"उसके भाग्य में जो होगा......मनुष्य जो लेकर पैदा होता है......वही......कोई बदल नहीं......आदमी की जिन्दगी और यह लम्बी दुनिया......समुद्र के बुल-बुले उठे और बैठे......।" संक्षेप में हम उमाशंकर के चरित्र के सम्बंध में यह कह सकते हैं कि जो व्यक्ति इतना संकोची हो कि मन से किसी युवती को प्यार करता रहे और वह युवती भी उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हो, किन्तु वह अपने प्रेम को व्यक्त न कर सके और जो भाग्य के सहारे की बात कहे वह सामाजिक क्रांति का सूत्रपात करने में कहाँ तक सफल हो सकता है यह संदिग्ध ही है।

आशादेवी—आशादेवी नाटक की नायिका होने के साथ ही साथ नाटककार की उस विचारधारा का प्रतिनिधित्व करती है जिसके अनुसार "नारी तथा पुरुष का सम्मिलन नैसर्गिक आवश्यकता की पूर्ति मात्र है।" आशादेवी के चरित्र में नारी की भावुकता को हटाने का बुद्धिवादी प्रयत्न

१. मुक्ति का रहस्य, पृष्ठ ११२

अवश्य किया गया है, किन्तु उसके हृदय में आद्योपान्त बुद्धिवादी विचार-धारा तथा परम्परागत संस्कारों का एक ऐसा द्वंद्व चलता रहता है कि उसका वास्तविक स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता। एक ओर तो नारी की स्वाभाविक लज्जा उसे घेरे है और दूसरी ओर वह बुद्धिवादी विचारधारा का समर्थन करती है जहाँ प्रणय में सफलता प्राप्त करने के लिए वह उमाशंकर की पत्नी को जहर देकर उसकी हत्या करने में भी नहीं हिचकती। उमाशंकर से वह कहती है—"हाँ मैं चाहती थी......मेरे प्रेम में कोई हिस्सेदार न बने। मैंने अपना हृदय निकालकर तुम्हारे चरणों में रख दिया। लेकिन तुमने उसका ख्याल नहीं किया, जिस समय मैं तुम्हारे प्रेम के लिए—तुम्हारी मुस्कराहट के लिए—तुम्हारे स्पर्श के लिए या स्त्री अपने पुरुष से......जो कुछ चाहती है......उसके लिए मरी जा रही थी......उस समय तुम मेरा सम्मान करते थे......मेरी......प्रशंसा करते थे। मेरे सामने तुम उस तरह जाते थे......जैसे लोग......अदालत में जाते हैं।"

डा० त्रिभुवन नाथ आशादेवी से अपनी वासना-पूर्ति करना चाहते हैं और उसके क्रुद्ध होने पर वह उसके पत्र को उमाशङ्कर को दिखाने की धमकी देते हैं। इस पर आशादेवी कहती है—"हूँ......मेरा चरित्र......स्त्री जीवन का जो सबसे बड़ा भरोसा है......उसे बिगाड़ने में डाक्टर साहब......!" इतने पर भी जब डाक्टर नहीं मानते तो वह विवश हो उनके साथ चल देती है। बाद में वह पश्चात्ताप की अग्नि में जलती है और अन्य कोई मार्ग न होने पर स्वयं जहर खा लेती है। डाक्टर के प्रयास से उसके प्राणों की रक्षा होती है और फिर उसके विचारों में परिवर्तन होता है। उमाशङ्कर के लिए वह अपने को अयोग्य समझने लगती है और डाक्टर के ही साथ शेष जीवन व्यतीत करने को कहती है—"अच्छा तो सुनो। मैं चाहती हूँ कि जिस तरह हमारा पाप एक है......उसी तरह हमारा जीवन भी एक हो जाय। तुमने कभी मुझसे कहा था कि मेरे लिए तुम पहले पुरुष हो। उस समय मैं तुमको घृणा करती थी—आज मैं तुम्हें प्रेम करती हूँ।

तुम मेरे लिए पहले पुरुष हो—यह सच है। अब तुम मेरे लिए अन्तिम पुरुष भी रहो। मैं तुम्हें प्रेम करती हूँ......तुम मेरे प्रियतम हो।" वह अपने समस्त अपराधों को उमाशङ्कर के सम्मुख स्वीकार कर उनसे क्षमा माँगती है और उनकी अनुमति प्राप्त कर अंत में डा० त्रिभुवन नाथ के साथ विवाह कर लेती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आशादेवी जहाँ एक ओर बुद्धिवादी विचारधारा का समर्थन करती हैं वहाँ दूसरी ओर उसके चरित्र में लज्जा, भय और संस्कारों की दुर्बलता भी स्पष्ट रूप से लक्षित होती है।

डा० त्रिभुवन नाथ—डा० त्रिभुवन नाथ का चरित्र खलनायक का चरित्र है। वह उस प्रकार के व्यक्ति हैं जिनका न कोई सिद्धांत है, न आदर्श। वह आशादेवी की ओर प्रारम्भ से ही आकर्षित है। उनका यह आकर्षण और प्रेम, कोरी वासना है। उचित अथवा अनुचित किसी भी प्रकार वह आशा देवी द्वारा अपनी वासना-पूर्ति करना चाहते हैं। अपने इस उद्देश्य में सफल होने के लिए वह सब कुछ करने को तैयार हैं। इस सम्बंध में वह कहते हैं—"मैंने आपके लिए क्या नहीं किया......डाक्टर होकर......जिस मरीज की जिन्दगी मुझे सौंपी गई थी......उसको ज़हर......खैर......मैं क्या करता......मेरा कमजोर दिल......।"

आशादेवी अपने चरित्र की पवित्रता छोड़ने के लिए तैयार नहीं होती तो वह कहते हैं—"चरित्र की पवित्रता......देवी जी यह सब चीजें दुनिया के लिए हैं जिसे संसार में रहना है......अपनी प्रतिष्ठा बचानी होगी।"

डाक्टर त्रिभुवन नाथ पुण्य, पाप और नैतिक-अनैतिक कुछ भी नहीं मानते। ईश्वर के सम्बंध में वह कहते हैं—"ईश्वर संसार के ऊपर नहीं...संसार के भीतर है और फिर वह कहने नहीं आता। उसकी कल्पना ही मनुष्य ने पाप के लिए की है और फिर यहाँ पाप और पुण्य का क्या सवाल है? यह तो प्रकृति की बात है,। जो है वही है।" वह आशादेवी को प्राप्त करने में सफल होते हैं। आशादेवी के ज़हर खा लेने पर उनके विचारों में

अकस्मात् परिवर्तन होता है और वह अपने को पापी समझने लगते हैं। वह आशादेवी से कहते हैं—"आपने ज़हर खाकर मेरी आत्मा को साफ कर दिया। बहुत दिनों की बुराई निकल गई, अब मैं मनुष्य हूँ।" डाक्टर त्रिभुवन नाथ के चरित्र और विचारों में यह आकस्मिक परिवर्तन आश्चर्य-जनक प्रतीत होता है। वह व्यक्ति जो कुछ समय पूर्व तक चरित्र, नैतिकता और सामाजिक व्यवस्था में तनिक भी आस्था नहीं रखता था, अकस्मात् पुण्यात्मा बन जाता है।

अभिनेयता तथा रङ्गमञ्च की दृष्टि से नाटककार ने स्वयं लिखा है—

"इसमें तीन दृश्य के साथ ही तीन अंकों की योजना की गई है। एक अंक में केवल एक दृश्य। बार-बार पर्दा उठाना और गिराना रङ्गमञ्च को अस्वाभाविक बना देता है। रङ्गमञ्च का संगठन ऐसा होना चाहिए कि दर्शकों को ऐसा न मालूम हो कि हम लोग किसी अजनवी जगह या किसी जादूघर में आ गये हैं।" यह सत्य है कि इस युग में रङ्गमञ्च की स्वाभाविकता पर विशेष ध्यान दिया जाता है, किन्तु इस बात पर भी ध्यान रखना आवश्यक है कि लम्बे दृश्यों की योजना से दर्शक ऊब न उठें। बीच-बीच में विश्राम स्थल का होना इस दृष्टि से आवश्यक है। कुल मिलाकर अभिनय की दृष्टि से प्रस्तुत नाटक एक सफल रचना है।

राजयोग

नाटककार ने आधुनिक सामाजिक जीवन की विषमताओं को लेकर प्रस्तुत नाटक की रचना की है। नाटक के कलेवर के ही अनुरूप उसका कथानक भी छोटा है। नाटककार ने घटनाओं तथा कथानक का निर्वाह सुन्दर ढङ्ग से किया है और इसी कारण कथानक का अभाव खटकने नहीं पाता।

कथानक—नाटक का कथानक आज के प्रचलित भारतीय समाज की एक झाँकी है। उसकी समस्या आधुनिक सभ्य-सुशिक्षित तथा 'फारवर्ड' समाज की समस्या है, जहाँ वैभव और ऐश्वर्य तो है, किन्तु मानसिक संकीर्णता के कारण सम्पूर्ण जीवन कलहमय हो जाता है। नारी लिपिस्टिक

तथा पाउडर से सुसज्जित हो काफीहाउस तथा सिनेमा में तो पुरुष के साथ घूमती है और पुरुष उसकी शिक्षा तथा उसकी प्रगति की दुहाई देता है, किन्तु आन्तरिक जगत में वह आज भी पहले की ही भाँति संकीर्ण है।

पुरुष आज भी नारी को अपनी संपत्ति समझता है। नारी की सारी स्वतंत्रता केवल पुरुष की वासना-पूर्ति तथा अपने जीवन को सुखी बनाने का ही एक साधन है। साथ ही नारी समानाधिकार, बौद्धिकता तथा नवीनता की पक्षपातिनी तो डंके की चोट पर बनती है, पर वह अपनी भावुकता की परिधि से तनिक भी आगे नहीं बढ़ पायी है। इसी से भारत की सामाजिक दुर्दशा, नारी जीवन की विडम्बना तथा समाज की बिगड़ी दशा है।

प्रस्तुत नाटक 'राजयोग' की यही समस्या है। रतनपुर के राज कुमार शत्रुसूदन सिंह एक ऐश्वर्यशाली राजा हैं। भारतीय रईस के अनुरूप ही विलास के समस्त साधन मौजूद हैं। वे अपने दीवान रघुवंश सिंह की प्रतीक्षा कर रहे हैं। गजराज उनके बचपन का ही स्वामिभक्त सेवक है जो उनके यहाँ लगभग २४ वर्ष से नौकरी कर रहा है। उसके पूर्व वह चम्पा (शत्रु सूदन सिंह की पत्नी) के यहाँ नौकर था। वहीं गजराज के अनुचित सम्बंध से बिहारी सिंह जी की पत्नी से चम्पा का जन्म होता है। कथानक का मूलाधार यही है जिसके चारों ओर समस्त घटनाओं का संघर्ष लिपटा हुआ चलता है।

नाटक के प्रारम्भ में ही हम देखते हैं कि रघुवंश सिंह के बुढ़ापे से ऊब कर शत्रुसूदन अब उनको दीवानी के पद से हटाना चाहते हैं, जहाँ वे पिछले ६० वर्षों से काम करते रहे हैं। वे अपने बुढ़ापे में एक मात्र पुत्र नरेन्द्र (राज योगी) के अचानक गायब हो जाने से अत्यन्त व्याकुल तथा क्षुब्ध हैं। उनकी इसी बिगड़ी मानसिक अवस्था में शत्रुसूदन उन पर मानसिक प्रहार करते हैं। वे उन्हे पुश्तैनी दीवान की गद्दी से निकालना चाहते हैं। इससे कुपित होकर वह दीवान की गद्दी को छोड़ किसी अज्ञात स्थान को चल देते हैं। यहीं से कथानक में संघर्ष प्रारम्भ होता है।

वातावरण की इस क्षुब्धता से गजराज के भीतर भी उथल-पुथल

होने लगती है। उसका चौबीस वर्ष पुराना पाप (चम्पा की माँ के साथ अनैतिक सम्बंध) जाग्रत हो उठता है जिसके कारण वह अत्यन्त दुखी रहता है। बाद में वह भी शत्रुसूदन का राज्य छोड़ चल देना चाहता है। शत्रुसूदन और चम्पा दोनों ही उसे रोकते हैं पर वह अपनी मानसिक व्यथा को केवल २४ वर्ष का पाप कह कर टाल देता है। स्वयं अपने को ही वह समस्त दुख का मूल कारण समझता है जिससे दीवान रघुवंश सिंह शत्रुसूदन सिंह, नरेन्द्र तथा चम्पा आदि सभी व्याकुल हैं।

नाटक में नरेन्द्र की उपस्थिति के पूर्व ही हमें उसका परिचय रघुवंश सिंह के वार्तालाप से मिल जाता है, जहाँ वह नरेन्द्र के साथ चम्पा के विवाह की बात करते हैं। इसका और भी स्पष्टीकरण गजराज तथा चम्पा और शत्रुसूदन आदि के वार्तालाप से हो जाता है। नरेन्द्र और चम्पा के प्रेम का प्रारंभ जब वह दोनों विश्वविद्यालय में सहपाठी थे तभी से होता है, किन्तु शत्रुसूदन सिंह एक पत्नी के रहते हुए भी चम्पा के पिता को विवश कर स्वयं उससे विवाह कर लेते हैं। इधर नरेन्द्र गायब हो जाता है और विभिन्न यौगिक क्रियाओं की सिद्धि प्राप्त करता है। चम्पा के जन्म की बात जान शत्रुसूदन उसका तिरस्कार करने लगते हैं। नरेन्द्र प्रायः शत्रुसूदन के बंगले के पास आता जाता है और वह अपने तर्कों तथा यौगिक चमत्कार द्वारा उसे प्रभावित कर उसके हृदय में चम्पा के लिए सद्भावना जागृत करना चाहता है। वह अपने इस ध्येय में सफल होता है। अंत में गजराज को लेकर नरेन्द्र चल देता है और इस प्रकार नाटक समाप्त होता है।

कथोपकथन—नाटक के कथोपकथन सुन्दर तथा प्रभाव पूर्ण हैं। साधारणतः कथोपकथन छोटे हैं, किन्तु जहाँ भावना अधिक उग्र हो जाती है, वहाँ वे लम्बे हो गये हैं। कथोपकथन की भाषा मुहावरेदार तथा व्यंग्य पूर्ण है। कहीं-कहीं नाटकीय व्यंग्य का भी सुन्दर ढंग से प्रयोग किया गया है। नरेन्द्र शत्रुसूदन से चम्पा को छीन लेने की बात इस व्यंग्य द्वारा कैसे सुन्दर ढंग से कहता है जिससे आगे होने वाली घटना की सूचना भी मिलती है, "राजकुमार यह सुगन्ध योगी के अंश की है—तुम्हारे अंश की

नहीं, लेकिन तुमने तो जैसे हर तरफ से योगी की चीज को अपनी बनाने का संकल्प कर लिया है।"

नाटक में कहीं-कहीं व्यंग्य बहुत ही तीक्ष्ण हो गये हैं। स्त्री-जन्म की उपयोगिता चम्पा शत्रुसूदन को कितने व्यंग्यात्मक ढंग से बतलाती है, "स्त्री का जन्म हुआ था पुरुष की धरोहर—उसका विष सुरक्षित रखने के लिए, अन्यथा वह अपने ही विष से जल मरता।" वह एक अन्य स्थल पर नारी की उपयोगिता को इन शब्दों में व्यक्त करती है, "भ्रम और मिथ्या की भाषा छोड़ कर यदि यों कहें कि मेरा काम है रात को आप की सेज पर और दिन को कठपुतली की तरह आपके इशारे पर......आप की मर्जी पर अपने को छोड़ देना......अपने शरीर को......अपने हृदय को......अपनी आत्मा को......" समस्त कथोपकथन व्यंग्य और तर्क के ही रूप में अधिक आये हैं और उपयुक्त वातावरण होने के कारण वह प्रभावपूर्ण भी हैं।

पात्र तथा चरित्र-चित्रण—पात्रों तथा चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इस नाटक का विशेष महत्व है। इस नाटक का कथानक एकांकी की तरह छोटा है और पात्रों में रघुवंश, नरेन्द्र, चम्पा, गजराज और शत्रुसूदन इन्ही तीन-चार प्रमुख पात्रों को लेकर नाटक का कलेवर रचा गया है। कथानक का निर्वाह इतने थोड़े से पात्रों को लेकर अत्यन्त सुन्दर ढंग से किया गया है और इसमें चारित्रिक विकास भी बड़े सुन्दर ढंग से हुआ है। पात्रों और कथानक की जटिलता से यह नाटक पूर्णतया मुक्त है। केवल एक स्त्री पात्र के रहते हुए भी नाटक में कहीं भी अरोचकता या शिथिलता नहीं है। पुरुषों में आधुनिक तथा पुरातन, दोनों ही वर्गों का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्र है। चरित्रों के विकास की दृष्टि से हम शत्रुसूदन सिंह, नरेन्द्र और चम्पा के चरित्र को ही लेंगे जो कथानक को मुख्य रूप से मोड़ते चलते हैं।

शत्रुसूदन सिंह—भारतीय धनिक समाज तथा पुराने राजाओं की परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनमें शिक्षा और पाश्चात्य सभ्यता

की छाप, जहाँ उनके आधुनिक बंगले और मोटर से मिलती है, वहाँ तत्कालीन राजनैतिक विचारधारा से भी वह प्रभावित जान पड़ते हैं। कांग्रेस के खद्दर का प्रभाव उन पर भी है। आधुनिकता के इस ऊपरी स्वांग के भीतर वे नितान्त भौतिक तथा रूढ़िवादी हैं। पुराने राजाओं के अनुरूप ही उनमें नारी का भोग के अतिरिक्त अन्य कोई स्थान नहीं है। उनका हृदय सदा सुन्दर वस्तुओं का संग्रहालय है। वे हृदय-विहीन सुन्दर शरीर के अधिक आकांक्षी जान पड़ते हैं। एक स्थल पर वे चम्पा से कहते हैं, "तुम्हें इन सब बातों से मतलब ?......रियासत के बारे में व्यवस्था का विचार करने का काम स्त्री का नहीं है। तुम्हारा काम है मेरी कल्पना को रंग कर सहस्रमुखी बना देना। दिन भर के काम से थक कर जब मैं तुम्हारे पास आऊँ, अपने शीतल स्पर्श से मेरी थकावट को मिटा देना। जब मैं ऊब उठूँ जीवन से......अपने प्रेम का अमृत पिलाकर मुझे अमर बना देना। तुम अपना काम करो और मैं अपना......"

शत्रुसूदन के चरित्र को चम्पा और भी स्पष्ट कर देती है, "इससे आपका कोई उपकार नहीं होगा। सोचने के लिए आप बनाये नहीं गये थे। आप जितना ही सोचेंगे—संसार की विभीषिका आपके सामने और भयंकर होती जायगी। आप सँभाल नहीं सकेंगे। संसार में जो कुछ भी सुन्दर और उपयोगी है, सब आपके लिए है......इन चीजों का संचय करते चलिये। आपका जीवन इसीलिए है— केवल इसीलिए।" आगे चलकर गजराज के सम्मुख चम्पा शत्रुसूदन के सम्बंध में कहती है,......"तुम्हारे सरकार प्राचीनता के विरोधी है। पुरानी सभी बातें उनके लिए बुरी हैं, उनमें कोई सार नहीं। तीर्थ और व्रत सब कुछ आडम्बर और ढकोसला है, स्वर्ग-नरक लोगों को ठगने के लिए ब्राह्मणों ने बनाया है। कर्मकांड बुद्धितत्व के प्रतिकूल है। रियासत में पुश्तैनी नौकरी न रहे। यह बात सिद्धान्त के प्रतिकूल है। जो कुछ हो, नया हो, विलायत की नकल हो। घर पर राष्ट्रीयवादी बनने की नीयत से खद्दर पहन लेते हैं। साहब लोगों से मिलने के समय विलायती सूटकेस का ताला खुल जाता है—यह सब

होते हुए भी तुम्हारे सरकार हृदय और मस्तिष्क के बच्चे हैं। कौतूहल या चमत्कार की कोई भी चीज उन्हें वश में कर लेती है। गंगाजल, चन्दन और प्राणायाम का नाम सुनते ही मुस्करा पड़ते हैं। शंख की ध्वनि इतनी कर्कश होती है कि अनायास ही कानों में उँगलियाँ......और नाक सिकुड़कर एक अंगुल ऊपर उठ जाती है। सबसे बड़ा महात्मा या तपस्वी वह है, जो जादू जानता है, जो उनके अबोध हृदय को उत्तेजित कर उसकी बागडोर अपने हाथ में ले सकता है।"

नरेन्द्र—नरेन्द्र आधुनिक शिक्षा तथा सभ्यता से परिपूर्ण युवक है। प्रयाग विश्वविद्यालय से एम० ए०, एल-एल० बी० की डिग्री प्राप्त करने के साथ ही वह पूर्ण मनुष्य है। जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण बुद्धिजीवी का सा है पर साथ ही वह सामाजिक नियमों की उपेक्षा कर स्वच्छन्दतावाद का पक्षपाती भी नहीं। वह नारी को शिक्षा तथा स्वतन्त्रता देने के साथ ही यह भी मानता है कि नारी निर्बल है और इस प्राकृतिक विभिन्नता के कारण ही उसके लिए पुरुष का आश्रय आवश्यक है। आधुनिक नारी के हृदय में पुरुष की प्रतिक्रिया को वह इन शब्दों में शत्रुसूदन से व्यक्त करता है,......"पुरुष का हृदय स्त्री के हृदय से सदैव बलवान होता है। स्त्री किस बात पर दम्भ करे। इस जमाने में स्त्री पुरुष की प्रतिहिंसा में खड़ी हो रही है। प्रकृति का बदला वह लेना चाहती है पुरुष से। उसकी आँखों में अधिक आँसू हैं—इसलिए कि उसके हृदय में अधिक गर्मी है—इसमें पुरुष का क्या अपराध ? एक अन्य स्थान पर वह चम्पा को समझाते हुए कहता है,......"तुम्हारी शिक्षा ने तुम्हारे मन में एक प्रकार का दुराग्रह, दुस्साहस, पैदा कर दिया है। शत्रुसूदन ने तुम्हारे साथ शादी कर ग़लती की थी, तुम उसी का बदला लेना चाहती हो। लेकिन इसमें तुम्हारा नाश हो रहा है। पुरुषों के आश्रय में स्त्रियों का रहना तुम्हारी समझ में उनकी अयोग्यता है, लेकिन प्रकृति बदली नहीं जा सकती। नारी-सुधार और नारी-समस्या के नाम पर स्त्री पुरुष नहीं बनायी जा सकती।

नारी की स्वच्छन्दता का आलोचक होने के साथ ही यह विवेक से काम लेता है। अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए न तो वह किसी के जीवन को बरबाद ही करना चाहता है, न उसकी प्रतिहिंसा की भावना ही रहती है। वह उदारता से उस अन्याय को बुद्धि की कसौटी पर कस कर मानवता के नाम पर सह लेता है। चम्पा के प्रेम को वह भुला देता है और उसे भुलाने के लिए ही वह राजयोग का बाना बनता है। वह चम्पा से कहता है,..."मैं निष्ठुर जरूर हूँ, लेकिन मेरी कोमलता भी तुम्हारे दुखों का अंत नहीं कर सकती। राजकुमार के साथ रहने में अगर तुम्हारे लिए आत्म-बलिदान है...तो मेरे साथ रहने में तो आत्म-हत्या। दस-पाँच वर्ष का सुख-संभोग लालसाओं की निवृत्ति नहीं कर सकता। आग घी से नहीं—पानी से बुझायी जाती है। राजकुमार के साथ रहने में तुम्हारी चेतना नहीं मारी जायगी...तुम अपने भीतर सारे संसार की धड़कन का अनुभव करोगी। तुम्हारा जीवन केवल तुम्हारा न होकर सारे संसार का होगा। जिन्दगी उसी की होती है जो उसे छोड़ना जानता है।"

चम्पा—कुलीन परिवार की शिक्षा-प्राप्त सुन्दर तथा स्वच्छन्द नारी है जो आधुनिक विश्वद्यालयों में शिक्षित नारियों के अनुरूप ही प्रेम तथा भावना के संसार में पूर्णरूप से स्वच्छन्द रहना चाहती है। वह पुरुष के स्वामित्व की भावना का तिरस्कार इस प्रकार व्यंग्य द्वारा व्यक्त करती है, "स्त्री के लिए पति ईश्वर है। आप नहीं जानते ? माधवा स्त्री के लिए तीर्थ और व्रत शास्त्रों में वर्जित है। पति ईश्वर है...पति भगवान है।"

प्रतिक्रिया तथा समानाधिकार की इस भावना के साथ ही चम्पा के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता उसकी निर्भीकता और स्पष्टवादिता है। वह शत्रुसूदन को, जहाँ उसकी संकीर्णता तथा अमानुषिकता पर तिरस्कृत करती है, वहाँ अपनी गलती भी स्वीकार करती है। उसका विश्वास है कि परम्परा से चले आये संस्कार केवल डिग्री प्राप्त कर लेने से ही नहीं मिट जाते। वह नारी की रूढ़िवादिता इन शब्दों में स्वीकार करती है, "ग्रेजुएट होने से कोई स्वर्ग की सीढ़ी तो नहीं मिल जाती। वही हृदय रहता है और

उसके विकार भी वही...कभी-कभी तो बढ़ जाते हैं। बुराई कौशल हो उठती है।"

चम्पा के चरित्र की निर्भीकता और उसकी स्पष्टवादिता इस कथन से स्पष्ट हो जाती है, "मैं अपने को निर्दोष तो नहीं कह रही हूँ, लेकिन उसमें भी मेरा अपराध नहीं है। विवाह होने के पहिले ही मेरा जीवन बिगड़ चुका था। यह अपराध मेरा नहीं—उन लोगों का था, जिन्होंने मुझे पढ़ने के लिए कालेज में भेज दिया—बाल-विवाह की कुरीतियों को मिटाने के लिए जिन्होंने आदर्श की वेदी पर मेरा बलिदान कर दिया। पढ़ाई के दिनों में ही...हृदय उलझ गया। स्त्री के जीवन में सोलह वर्ष की अवस्था से लेकर बीस वर्ष तक...यह चार वर्षों का काल....तो सपने का होता है, कल्पना का इन्द्रधनुष सहस्र रंगों में रंग उठता था। उन्हीं दिनों प्रलय की वह सुन्दर घड़ी आई...तब...तब...तब मैं उनसे प्रेम करने लगी। यह सब कैसे हुआ, क्यों हुआ, मैं समझ न सकी।..."

शत्रुसूदन—"लेकिन तुम्हें तो ऊँची शिक्षा मिली थी। तुमने इस बात को व्यक्त क्यों नहीं किया ?"

चम्पा—"यह पुरुष से हो सकता है, लेकिन स्त्री से नहीं। पुरुष के लिए तो यह पौरुष हो उठता है, लेकिन स्त्री के लिए तो यह चिरन्तन पाप है।" इन कथनों से चम्पा का चरित्र स्पष्ट हो जाता है।

अभिनेयता की दृष्टि से यह एक सफल नाटक है। इसमें स्थान तथा काल की एकता का भी पूर्ण ध्यान रखा गया है। प्रभावपूर्ण और सरल भाषा होने के कारण दर्शकों को किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। नाटक में समाज की जिन कुरीतियों का दिग्दर्शन कराया गया है उसमें लेखक को विशेष रूप से सफलता मिली है।

इस नाटक के सम्बंध में श्री ब्रजरत्न दास ने लिखा है, "कथावस्तु विशेष सुगठित नहीं हो सका है। शत्रुसूदन सच्चे स्वामिभक्त वृद्ध मंत्री पर इतना रोब गाँठता है, पर एक अज्ञात पुरुष के सामने, स्यात उसके हिप्नो-टिज़्म की शक्ति के वशीभूत होकर बच्चे के समान आज्ञाकारी हो जाता

है।...नाटक अवश्य ही आकर्षक हो गया है और पठनीय तथा अभिनेय दोनो है।"

श्री रामप्रताप त्रिपाठी ने इस नाटक की आलोचना करते हुए अंत में लिखा है, "रंगमंच की दृष्टि से नाटक बहुत सफल है। स्थान, पात्र और समय सभी इतने कम हैं कि इन्हें अच्छा रूप दिया जा सकता है। भाषा सरल और प्रभावोत्पादक है।...गजराज के २४ वर्ष पूर्व के पाप को लेकर जो एक जिज्ञासा प्रारम्भ में खड़ी हो जाती है वह अंत तक पाठकों की रुचि को बढ़ाती है। वार्तालाप बड़े ही मनोहर और प्रभावशाली हैं। चम्पा के कथन में स्थल-स्थल पर समाज की बुराइयों के प्रति जो अप्रत्यक्ष व्यंग्य दिखता है वह बहुत ही सफल है।"

वितस्ता की लहरें

"वितस्ता के तट पर दो विभिन्न जातियों और संस्कृतियों की टक्कर हुई थी जो अपने विधि-विधान और जीवन-दर्शन में एक दूसरे के विपरीत थीं। यवन-सैनिकों में विजय का उन्माद था तो पुरु और केकय जनपद के नागरिकों में देश के धर्म और पूर्वजों के आचरण की रक्षा का भार। अपनी ओर से बस इतना कहूँगा कि इस नाटक के लिखने में जातीय मोह या देश के गौरव के प्रति मेरा आग्रह नहीं रहा। नाटक लिखते समय सारे व्यापार जैसे मैं अपनी आँखों से देखता रहा और संवाद सुनता रहा हूँ।" लेखक के इस कथन से प्रस्तुत नाटक की पृष्ठिभूमि पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है।

कथानक—इतिहास में सिकन्दर की वीरता और उसकी विश्व-विजयी होने की मनोकामना का उल्लेख मिलता है। यूनानी इतिहास-लेखकों ने उसके भारतीय अभियान का विस्तृत वर्णन किया है। इस देश में केकय नरेश राजा पुरु के साथ उसके भयंकर युद्ध की घटना सर्वाधिक प्रसिद्ध है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इतिहासकारों ने सिकन्दर और पुरु के युद्ध में यह दिखाया है कि सिकन्दर ने उसे जीवन-दान देने के साथ

हो उसका राज्य भी लौटा दिया। लेखक ने इस घटना को सर्वथा भिन्न रूप में चित्रित किया है जिसे हम नाटककार की मौलिक सूझ कहेंगे।

नाटक का आरम्भ केकय के राजभवन से होता है। प्रतिहारियों और राजवधू रोहिणी के वार्तालाप से यह ज्ञात होता है कि युवराज रुद्रदत्त वितस्ता के घाट पर तक्षशिला से भागकर आने वाले स्नातकों और नगरवासियों के स्वागतार्थ गये हैं। आगन्तुकों में पारस नरेश दारयबाहु की दो कन्याएँ भी हैं जो अब केकय-राजभवन में शरण ग्रहण करेंगी। यह विदित होता है कि तक्षशिला के महाराज आम्भी द्वारा सिकन्दर की सत्ता स्वीकार कर लेने से गान्धार देश की स्वतंत्रता नष्ट हो चुकी है। तक्षशिला के आचार्य विष्णुगुप्त केकय नरेश की सहायता से यवन सेना से देश की रक्षा करने में हर तरह से प्रयत्नशील दिखायी देते हैं। इसी बीच महाराज आम्भी का पुत्र भद्रबाहु पिता के कर्म का प्रायश्चित करने की भावना से आचार्य विष्णुगुप्त के पास पहुँचता है।

नाटक के दूसरे अंक में पारस-नरेश दारयबाहु की कन्याओं—तारा और रजनी के वार्तालाप से, जो केकय नरेश पुरा के राजभवन में ही अपने दिन काट रही हैं, यह विदित होता है कि रजनी मन ही मन युवराज रुद्रदत्त के प्रेम में विह्वल है। युवराज की पत्नी देवी रोहिणी को भी यह ज्ञात है कि रजनी अपने प्राणों को युवराज के चरणों में समर्पित कर चुकी है। देवी रोहिणी उसके इस एकनिष्ठ प्रेम का समर्थन करती हैं।

इसी समय निषद के राजा और अलिकसुन्दर के सहायक शशिगुप्त दो यवन सेनापतियों के साथ केकय नरेश पुरु के पास मंत्रणा के लिए आते हैं। यवन-दूत की हैसियत से शशिगुप्त यह प्रस्ताव रखते हैं कि यवन-सेनाओं को पूर्व के लिए मार्ग दे दिया जाय जिसके लिए महाराज पुरु किसी प्रकार अपनी सहमति नहीं देते। इसी अवसर पर यह रहस्य खुलता है कि आचार्य विष्णुगुप्त यवन-राज को यह वचन पहले ही दे चुके हैं कि यवन-सेना को पूर्व की ओर जाने का मार्ग केकय नरेश द्वारा दे दिया जायगा।

यवन-सेनापतियों द्वारा महाराज पुरु यवनराज सिकन्दर के पास द्वन्द्व युद्ध करने का प्रस्ताव भेजते हैं।

तीसरे अंक का आरम्भ रणभूमि में यवन सेना और केकय सेना के बीच घमासान युद्ध से होता है। केकय सेना के शौर्य और पराक्रम से यवनराज सिकन्दर निराश और चिंतित दिखायी देता है। वस्तुतः पुरु के साथ विश्वासघात कर यवनराज सिकन्दर अपनी सेना सहित चोरी से रातोरात वितस्ता पार कर लेता है। सिकन्दर निषद के राजा शशिगुप्त और आम्भी के सम्मुख यह स्वीकार करता है कि पुरु के साथ युद्ध में वह किसी प्रकार विजयी नहीं हो सकता। इसी अवसर पर सेनापति सेल्यूकस यह दुखद समाचार देता है कि तक्षशिला के स्नातकों द्वारा सुरक्षा के लिए नियुक्त सब सैनिकों का वधकर सिकन्दर की प्रेयसी ताया का हरण किया गया है। सब ओर से निराश होकर सिकन्दर युद्ध बन्द करने की घोषणा पर विचार करता दिखायी देता है। अचानक महाराज पुरु का घायल हाथी भागता हुआ आता है और यवन-विजयी को सूँड़ से उठा लेता है। महाराज पुरु ऊपर बैठे ही बैठे विजयी को हाथी की सूँड़ से मुक्त करते हैं।

यवन-विजयी सिकन्दर महाराज पुरु के सम्मुख यह स्वीकार करता है कि नर-संहार और हिंसा से प्राप्त विजय उसकी वास्तविक विजय नहीं है। सिकन्दर की प्रेयसी ताया सबके सम्मुख इस देश की सभ्यता और संस्कृति का यश गान करती है। सिकन्दर महाराज पुरु से कहता है, "इस देश के किसी भी जन के आप राजा हैं…मेरे लिए भी वहीं रहें। अंत में महाराज पुरु पारसनरेश दारायबाहु की दूसरी कन्या तारा का हाथ आम्भी के राजकुमार भद्रबाहु को सौंपते हैं और इस प्रकार सुख और संतोष के वातावरण में नाटक समाप्त होता है।

कथोपकथन :—किसी भी नाटक की सफलता और रोचकता मुख्यतः उसके कथोपकथनो पर निर्भर रहती है। प्रस्तुत नाटक में हमें लेखक की भाषा में स्वाभाविकता और प्रवाह मिलता है। चुने हुए शब्दों में पात्रों द्वारा अपने मनोभाव व्यक्त कराने में लेखक को यथेष्ट सफलता मिली है।

उदाहरण के लिए राजवधू रोहिणी का यह कथन देखिये जिसमें वह इस देश की मान्यताओं का उल्लेख करते हुए कहती है, "छीः मन की रोक यम के पाश से भी कड़ी होती है। पर तू नहीं जानेगी इसे, यवन भूमि नहीं है यह, जहाँ कोई रोक, कोई बन्धन नहीं है। इस भूमि से बन्धन के अंकुर फूटते हैं, पति के प्रति, पुत्र के प्रति, जन-जन के प्रति, पशु, पक्षी, वृक्ष के प्रति! नदी और पहाड़ के प्रति भी हमारे बन्धन हैं, यवन कन्या तुम नहीं जानोगी यह सब।"

आचार्य विष्णुगुप्त किन शब्दों में महाराज पुरु को युद्ध के लिए प्रेरित करते हैं, वह उनके इस कथन में देखिये, "हर ध्वंस में निर्माण के और हर प्रलय में सृष्टि के बीज पड़ते हैं। शिव के भक्त को शंकर के तांडव से बल लेना है आज।" इस प्रकार के कथोपकथनों से नाटक की सजीवता और प्रभावपूर्णता में वृद्धि हुई है।

प्रणय स्थलों का चित्रण करने में भी नाटककार को सराहनीय सफलता मिली है। राजवधू रोहिणी युवराज रुद्रदत्त के सम्मुख उसके प्रति रजनी के एकनिष्ठ प्रेम का चित्रण कितने मार्मिक ढंग से प्रस्तुत करती है, वह इस कथन में देखिये, "वही सृष्टि का पहला रोग···अनुराग का पहला स्पर्श···जब इस धरती को छोड़ कर कहीं चले जाने का मन होता है···एकान्त में बैठकर जब लोग अनजाने किसी का चित्र बनाया करते हैं, किसी के कहीं चले जाने से जब आँखें सूनी हो जाती हैं—कान सूने हो जाते हैं···धरती-आकाश सूने हो जाते हैं···कहीं कुछ शेष नहीं बचता।"

नाटक के अधिकांश ऐसे स्थलों के कथोपकथन जहाँ यवन-सैनिकों से इस देश की रक्षा का प्रसंग उठता है, वीरतापूर्ण होने के साथ ही साथ इस देश की प्राचीन मान्यताओं के अनुकूल हैं। यवन-सेना से युद्ध के लिए तत्पर होने के समय महाराज पुरु कहते हैं, "मृत्यु से डरने वाला हर दिन और हर रात सौ बार मरता है और जो नहीं डरता वह मर कर भी अमर रहता है। राजर्षि अश्वपति के कुल का बालक भी इतनी बात

जानता है । यमराज के महिष के कंठ की घंटी भी मुझे उतनी ही प्रिय लगेगी...”

इन उदाहरणों को प्रस्तुत करते हुए हम यह कह सकते हैं कि लेखक का भाषा पर अच्छा अधिकार है । यह कहा जा सकता है कि अभिनेयता के विचार से कहीं-कहीं कथोपकथनों का विस्तार अधिक हो गया है । लेखक के अन्य नाटकों में भी कुछ स्थलों पर इस दोष का संकेत किया जा चुका है ।

पात्र तथा चरित्र-चित्रण :—इस ऐतिहासिक नाटक के पात्रों में से तक्षशिला के आचार्य विष्णुगुप्त, केकय नरेश पुरु और यवनविजयी अलिकसुन्दर प्रमुख पात्र हैं । नारी पात्रों में से केकय राजवधू रोहिणी सर्व-प्रमुख है । संक्षेप में यहाँ इन पात्रों के चारित्रिक विकास की समीक्षा प्रस्तुत की जा रही है ।

आचार्य विष्णुगुप्त :—आचार्य विष्णुगुप्त तक्षशिला विद्यापीठ के आचार्य हैं जो तक्षशिला की स्वतंत्रता नष्ट होने पर यवन सेना से देश की रक्षा करने के उद्देश्य से विद्यापीठ के स्नातकों सहित केकयराज में चले आते हैं । देश की रक्षा करने के लिए वह हर तरह से प्रयत्न-शील दिखायी देते हैं । उनके चरित्र में विद्वत्ता के साथ ही साथ राजनीति के दाँव-पेंच और कूटनीतिज्ञता का भी समावेश है । एक ओर जहाँ वे प्राचीन भारतीय मान्यताओं और परंपराओं से अनुप्रेरित दिखायी देते हैं वहाँ दूसरी ओर वे यवन सेना का मुकाबला करने के लिए नीति से काम लेने की सलाह देते हैं । महाराज पुरु के आवेश को शान्त करते हुए वह कहते हैं, “हा...हा...हा...महाभारत के समर का आदर्श इन विदेशी यवनों पर चलेगा ? इस प्रकार समूची भरत-भूमि...समूची भारतीय संतति इन यवनों के अधिकार में चली जायगी । भूल जाइये अपनी या देश के किसी अजेय वीर की वीरता को । दो समाजों की, दो संस्कृतियों की, दो व्यवहार-विधानों की टक्कर है यह । अश्वमेध और राजसूय के नियम यहाँ नहीं चलेंगे ।”

यवन-सेना से देश की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए वह वीरता पूर्ण युद्ध के साथ ही साथ नीति से काम लेना आवश्यक समझते हैं। अपने इस विचार को व्यक्त करते हुए वे कहते हैं, "शस्त्र की विजय का युग चला गया राजकुमार! अब यह युग मेधा की विजय का है। किसी दिन जगत के दूसरे छोर पर यवन-ध्वजा लहरायेगी, यदि मेधा का उत्तर मेधा से न दिया गया। इस सारे काण्ड में अरिस्तातल की शक्ति काम कर रही है। अलिकसुन्दर निमित्त मात्र है, केवल निमित्त......"

कई स्थलों पर आचार्य विष्णु गुप्त अलिकसुन्दर के गुरु अरिस्तातल की महानता स्वीकार करते हैं। इतना ही नहीं उनके विचार से सिकन्दर की विजय और उसकी सफलता का एकमात्र श्रेय उसके गुरु अरिस्तातल को है। वह यवन-दूत से कहते हैं, "सत्य कह रहे हैं दूत! सुरा-सेवी नहीं हूँ मैं, पर सुरा-सेवी अरिस्तातल के चरण-चिह्नों पर चलने का संकल्प मैं कर चुका हूँ।....अरिस्तातल को मैं गुरु मान चुका हूँ, इतनी दूर से... एकलव्य ने द्रोणाचार्य को जैसे गुरु बना लिया था।"

महाराज पुरु :—महाराज पुरु की वीरता और पराक्रम इतिहास प्रसिद्ध है। यवन-सेना का मुकाबला करने में जिस धैर्य और वीरता का उन्होंने प्रदर्शन किया वह हमारे देश के इतिहास का एक उज्वल अध्याय है। इस नाटक में भी जिस रूप में हमें महाराज पुरु के दर्शन होते हैं वह हमारी देश की मान्यताओं और तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप ही है।

भद्रबाहु से यह विदित होने पर कि विजयी यवन-सेना के अत्याचार से तक्षशिला में त्राहि-त्राहि मची है और वहाँ की नारियाँ भी बलपूर्वक यवन-शिवरों में ले जायी गई हैं, केकयवीर पुरु विचलित हो उठते हैं। वह प्रतिशोध के लिये विकल दिखायी देते हैं। तक्षशिला-निवासियों की भर्त्सना करते हुए वे कहते हैं, "वहाँ अब भी पुरुष हैं। सिन्धु का जल जैसे उनके लिए सूख गया है। डूब मरते उसी में जाकर। अबला के धर्म की रक्षा जिस धरती पर न हो उस धरती को रसातल में समा जाना चाहिए।"

शशिगुप्त के यह प्रस्ताव करने पर कि यवन-सेना को पूर्व की ओर जाने का मार्ग दे दिया जाय वे कहते हैं, "केवल विजय के लिए युद्ध नहीं किया जाता, वत्स! मृत्यु के लिए भी युद्ध किया जाता है। फल की चिंता छोड़कर हमें कर्म भर करना है। वितस्ता के पूर्व की भूमि जीतकर विजयी मुझे दान कर देगा। उसका दान ग्रहण कर अपने पाप का भागी अपने पूर्वजों को भी मैं बनाऊँगा..." स्थान-स्थान पर उनके यह विरोचित कथन हमें अपने देश की वीरता और शौर्य का स्मरण कराते हैं।

युद्ध में शत्रु के प्राणों की रक्षा वह स्वयं करते हैं। वे उस भारतीय आदर्श को प्रस्तुत करते हैं जिसके अनुसार प्रकृति के धर्म में शत्रु और मित्र का विचार लुप्त हो जाता है। अलिकसुन्दर द्वारा इस सम्बंध में प्रश्न किये जाने पर वे कहते हैं, "तुम्हारा प्राण अपने लिए मैंने बचाया। रुद्र-दत्त या भद्रबाहु में मेरा जो आकर्षण है, कालनेमि की सूँड़ में विवश देख कर मेरे भीतर वही उमंग उठा। तुम्हें बचाकर मैंने अपने पुत्र की रक्षा की...मेरी दया नहीं थी यह विजयी, मेरी विवशता थी। अपने पुत्र के जीवन की कामना मेरी तभी होगी जब मैं उसकी अवस्था के किसी भी तरुण के जीवन की कामना करूँ।" इतना ही नहीं उनके युद्ध का आदर्श इस वाक्य से स्पष्ट होता है, "हम युद्ध करते हैं कर्मभाव से, शत्रुभाव वहाँ भी नहीं होता।"

अलिकसुन्दर के सम्मुख इस देश की सांस्कृतिक महानता का उल्लेख करते हुए यह स्पष्ट करते हैं कि सैन्यबल और नर-संहार द्वारा प्राप्त विजय उसकी वास्तविक विजय नहीं है। उनका कथन है, "पारसीक जीवन-पद्धति से यवन-जीवन-पद्धति पराजित हुई है। तुम्हारे साथ के इति-हासकार इसे चाहे तुम्हारी विजय कहें।" संक्षेप में महाराज पुरु का चरित्र वीरता और साहस से परिपूर्ण एक आदर्श भारतीय राजा का चरित्र है।

अलिकसुन्दर :—नाटक का अत्यन्त महत्वपूर्ण पात्र होते हुए भी नाटक के प्रथम दो अंकों में वह स्वयं पाठकों अथवा दर्शकों के सम्मुख नहीं आता है। नाटककार की यह विशेषता है कि पात्र का प्रवेश किये

बिना नाटक के अन्य पात्रों के परस्पर वार्तालाप से ही वह अलिकसुन्दर के सम्बंध में पाठकों की एक निश्चित धारणा बनाने में सफल हुआ है। सर्वप्रथम हमें राजवधू रोहिणी और प्रहरियों के बीच होने वाले वार्तालाप से यह विदित होता है कि अलिकसुन्दर की यवन-सेना के आक्रमण के सम्मुख तक्षशिला के महाराज आम्भी ने घुटने टेक दिये हैं। नाटक के अन्य प्रमुख पात्रों जैसे युवराज रुद्रदत्त, महाराज पुरु, आचार्य विष्णुगुप्त और भद्रबाहु आदि के मध्य में जो वार्तालाप होते हैं उनसे हमें यवनराज अलिकसुन्दर और उसकी सेना के सम्बंध में पर्याप्त ज्ञान हो जाता है। उसकी नृशंसता और उसके रण-कौशल आदि के सम्बंध में भी हमें नाटक के अन्य पात्रों द्वारा ही सूचना मिलती है।

नाटक के तीसरे अंक में रण-भूमि पर अलिकसुन्दर हमारे सम्मुख आता है। केकयनरेश महाराज पुरु की सेना जिस वीरता से यवन-सैनिकों के आक्रमण का जवाब देती है उससे यवन विजयी चिन्तित और व्यग्र दिखायी देता है! निराश होकर वह कहता है, "इस युद्ध में जो विजय मिले तो आम्भी के दिये सभी बैलों की बलि मैं जीयस की नयी वेदी पर चढ़ा दूँगा, इतने ही अपोलो को, एथनी और हेरा को भी इतने ही। देवता प्रतिकूल न होते तो पुरु का वह पुत्र ऐसे बाल-बाल न बच जाता। एक साथ मेरे सात सेनापतियों को मारकर भी वह जी रहा है। हरिकुल और ट्राय के विजयी वीरों का गौरव वितस्ता की लहरों में डूब रहा है।"

युद्ध से निराश होने के ही समय उसे सिल्यूकस द्वारा प्रेयसी ताया के हरण का हृदय विदारक समाचार मिलता है जिसे सुनकर वह विक्षिप्त सा हो उठता है। उसी दशा में वह कह उठता है, "ताया के न रहने पर समूचा जगत जीतकर भी मैं क्या करूँगा?" इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि विश्व विजय की कामना से भी अधिक विजयी यवन प्रेयसी ताया के लिए विकल है। वह किस सीमा तक ताया से प्रेम करता है इसका संकेत उसके इस कथन से मिलता है, "संसार के पर्वत सोने के बन जायँ, समुद्र की सारी रेत मणि और मोती बने, पेड़ पल्लव नीलम की लताएँ हों, धरती

का सारा जल अमृत बने, मिट्टी का कहीं नाम न रहे, सब कुछ सोने में बदल जाय......यह सब एक ओर और वह एक ओर......"

महाराज पुरु द्वारा उसकी प्राण-रक्षा किये जाने पर उसकी दानवी-प्रवृत्ति में आश्चर्यजनक परिवर्तन होता है और वह कहता है, "वह विजय मेरी नहीं, मेरे भीतर के उस अहंकार की उस दानव की रही है जिसके सुख के लिए यहाँ तक पहुँच गया।" नाटक के अंत में महाराज पुरु के सम्मुख उसके इस कथन से उसका हृदय परिवर्तन प्रमाणित होता है, "मुझे अब आपसे युद्ध नहीं करना है। पहला जन्म किसी पिता ने दिया था। यह दूसरा जन्म आपने दिया है।"

रोहिणी :—राजवधू रोहिणी के चरित्र-चित्रण में नाटककार ने धैर्य वीरता और त्याग जैसे आदर्श गुणों का समावेश किया है। यवन-सेना के आक्रमण के समाचार से वह किसी प्रकार विचलित नहीं होती। आचार्य विष्णुगुप्त द्वारा त्याग की भिक्षा मांगने पर वह देश के लिये सर्वस्व अर्पित करने को तैयार हो जाती है। यवन-सेना की सत्ता स्वीकार करने वाले तक्षशिला के महाराज आम्भी की भर्त्सना वह इन शब्दों में करती है, "देश की स्वाधीनता को बेंचने वाला, अपनी राज्यलक्ष्मी को नंगी करने वाला आम्भी अब महाराज नहीं है प्रहरी! इस शब्द से उसका संबोधन न करना।"

वीर-नारी की भाँति युद्ध का उसे कोई भय नहीं रहता और वह आदर्श भारतीय नारी के स्वर में कहती है, "आर्यपुत्र के रथ पर उनके बाँये बैठकर मैं युद्ध करूँगी। पत्नी सब कहीं पति की छाया है, वहाँ भी रहेगी। मृत्यु से डरना हमने नहीं सीखा।"

रोहिणी के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता उसकी त्याग की भावना है। यह ज्ञात होने पर कि रजनी हर तरह से राजकुमार रुद्रदत्त पर मुग्ध है उसे कोई ईर्षा नहीं होती। इसके विपरीत वह इसे पूर्णतया स्वाभाविक बताते हुए इन शब्दों में उसके प्रणय का समर्थन करती है, "शरद का चन्द्रमा कौन नहीं देखता और वसंत की वायु किसे प्रिय नहीं लगती!

विस्मय हो रहा है तुम्हें मेरी यह बात सुनकर ? तो फिर सुन लो—जिस दिन भाग्य ने तुम्हें यहाँ भेज दिया......तभी मैंने सोच लिया कि मुझे कुछ ऐसा करना होगा जो किसी तरुणी ने न किया हो।" त्याग की इस महानता से ही उसका चरित्र साधारण से ऊपर उठ गया है।

अभिनेयता की दृष्टि से इस नाटक को एक सफल रचना कहा जा सकता है। युद्ध-भूमि का केवल एक ही स्थल आता है। तीन अंक के इस लघु नाटक में लेखक ने यवन सेना के आक्रमण और केकय नरेश महाराज पुरु द्वारा यवन-विजयी अलिक सुन्दर के हृदय परिवर्तन का जिस सजीवता के साथ चित्रण किया है, वह प्रशंसनीय है।

सिन्दूर की होली

मिश्र जी के समस्या प्रधान नाटकों में यह अत्यन्त ख्याति प्राप्त नाटक है। लेखक का बुद्धिवादी दृष्टिकोण इस नाटक में बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है।

कथानक :—प्रस्तुत नाटक का कथानक स्वतंत्रता के पूर्व भारतीय समाज का एक चित्र है जिसमें बड़े अफसरों और जमींदारों के अत्याचार का उल्लेख होने के साथ ही साथ नारी और पुरुष से सम्बद्ध अन्य सामाजिक समस्याओं पर भी प्रकाश डाला गया है। नारी समस्या के अन्तर्गत नारी के आन्तरिक द्वन्द्वों, प्रेम तथा विधवा-विवाह आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। मनोरमा विधवा नारी वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है। वह उन बालविधवाओं में से है जिसने कभी पतिका मुख भी नहीं देखा है। चन्द्रकला आधुनिक युग का प्रतिनिधित्व करने वाली नारी है जो अपनी शारीरिक स्वतंत्रता के साथ ही मानसिक स्वतंत्रता चाहती है। मुरारीलाल के अफसर वर्ग की समस्या भी महत्वपूर्ण है जो घूस के सहारे जीवन का मूल्यांकन करते हैं। मनोज शिक्षित युवक वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है।

नाटक के कथानक का प्रारम्भ डिप्टीकलक्टर मुरारीलाल के बंगले से होता है। माहिरअली उनका बहुत पुराना मुंशी है। उसका काम है

अपने मालिक के लिए मोटे आसामियों को फंसाना और उनसे मोटी रकम वसूल करना। वह भगवंतसिंह को फाँस कर दस हजार रुपये वसूल करता है तथा रजनीकांत का मामला तय कराने का वायदा करता है। मुरारी लाल यह रुपये अपने मित्र के पुत्र मनोजशंकर के विलायत जाने के लिए ले लेते हैं। उधर मनोजशंकर अपने पिता की संदेह जनक मृत्यु का रहस्य जानने को अत्यन्त व्याकुल रहता है। उसकी पढ़ने लिखने में भी तबियत नहीं लगती और वह सदा विक्षिप्त रहता है। इसी मनोदशा में वह परीक्षा के एक दिन पहिले वापस लौट आता है।

चन्द्रकला मुरारीलाल की एक मात्र पुत्री है। उसका विवाह वह मनोज के साथ करना चाहते हैं। चन्द्रकला मनोज की ओर आकर्षित जान पड़ती है, किन्तु मनोज सदा उसकी उपेक्षा करता है। इसी बीच रजनीकांत का आगमन होता है। उसके सौंदर्य तथा शारीरिक गठन को देख चन्द्र-कला उस पर अनुरक्त होती है। मनोरमा एक विधवा है जो चन्द्रकला को चित्रकला सिखाने आती है। उसकी सुन्दरता पर मुरारीलाल और मनोज-शंकर दोनों ही रीझ जाते हैं। वह मनोजशंकर से प्रेम अवश्य करती है पर समाज की व्यवस्था तोड़कर आगे बढ़ने की उसमें शक्ति नहीं। इस बीच रजनीकांत घायल हो जाता है। चन्द्रकला उसे इस दशा में देख विक्षिप्त हो जाती है। वह अपने मानसिक आवेग को रोक नहीं पाती और अस्पताल में उसी के हाथ से अपने मस्तक में सिंदूर भर लेती है। यही सिंदूर की होली है। मुरारीलाल पुत्री के इस कृत्य से अत्यन्त क्रुद्ध होते हैं। इसी अवसर पर मनोजशंकर अपने पिता की रहस्यमय मृत्यु का माहिर अली से हाल जानकर वापस लौटता है। वह मुरारीलाल को धिक्कारता है। मुरारी लाल को भी पश्चात्ताप होता है। वह अपनी सारी सम्पत्ति उसे देना चाहते हैं और उससे चन्द्रकला से विवाह कर लेने का प्रस्ताव करते हैं, किन्तु वह इसे अस्वीकार करदेता है। चन्द्रकला भी जीवन भर अविवाहित रह कर मानसिक वैधव्य में जीवन-यापन करना चाहती है। माहिरअली

अपने मन के रहस्य को व्यक्त कर शान्ति का अनुभव करता है और इस प्रकार नाटक समाप्त होता है।

नाटक का कथानक पाठकों के सम्मुख एक समस्या अवश्य उपस्थित करता है, किन्तु उसका निदान नहीं प्रस्तुत करता। नाटक का कथानक सजीव है तथा विभिन्न वर्गों की समस्याओं को लेकर वह अत्यन्त व्यापक हो जाता है। कथानक आज के भारतीय समाज तथा नारी और पुरुष की समस्याओं को उपस्थित करने में पूर्णरूप से सफल है।

कथोपकथन:—प्रस्तुत नाटक के कथोपकथन चलती भाषा में लिखे गये हैं। कहीं-कहीं पर कथोपकथन अत्यन्त गम्भीर और लम्बे हो गये हैं। फिर भी उनकी भाषा अत्यन्त सरस और प्रभावपूर्ण है। उदाहरण के लिए मनोरमा द्वारा मनोजशंकर के सम्मुख कहे गये यह शब्द उसकी विवशता बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त करते हैं, "नहीं तो......केवल अपने को भूल जाने के लिए मैंने अब तक रंग और कलम से खिलवाड़ किया है...... लेकिन मैं देखती हूँ मेरा हृदय धनी हुआ जा रहा है......इतना धन मेरे किस काम आयेगा......इसलिये मुझे इसे निचोड़ कर सुखा डालना है। रंगों की पिटारी गंगा में फेंक कर माला लेने में कल्याण है। अगर मैं अपने साथ न्याय करूँ तो मुझे स्वीकार करना पड़ेगा कि अपने निर्जीव चित्र के लिए मैं सदैव जीवन की कामना करती रही......उसके साथ मुझे एक प्रकार का सुख और सहवास मिला है। लेकिन मुझे इसका अधिकार कहाँ था? मैं अपनी आत्मा बेंचती रही हूँ, जो मैं पहले ही बेंच चुकी थी और पूरा मूल्य भी ले लिया था।"

नाटक के अधिकांश कथोपकथनों की रचना मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर की गई है। वे अधिकतर मानसिक गुत्थियों को सुलझाने में लगे हैं और इसी कारण उनका नाटक में विशेष महत्व है। चन्द्रकला के मानसिक उन्माद का यह चित्र कितना सजीव है, "क्या 'अरे अरे' कर रही हो...इसमें विस्मय क्या है? मेरा प्रेमी वहाँ था...तुम जानती हो। यह मेरी सुहागरात है...कितनी सूनी...लेकिन कितनी व्यापक! इसका

अन्त नहीं है। मेरा पुरुष मुझे अपनी गुलामी में न रख सका...मुझे सदैव के लिए स्वतंत्र कर गया। मुझे जो अवसर कभी न मिलता, वह मिल गया।"

व्यंग्य की दृष्टि से नाटक में कई सुन्दर स्थल मिलते हैं। कहीं नारी का आक्रोष पुरुष वर्ग पर है, कहीं पुरुष का नारी के प्रति! कहीं सामाजिक रूढ़ियों के प्रति कटु व्यंग्य किये गए हैं तो कहीं विधवा की दयनीय अवस्था को लेकर। प्रारम्भ में ही मुरारीलाल पाश्चात्य शिक्षा की आलोचना करते हुए चन्द्रकला से कहते हैं, "यह क्षमा तुम नहीं माँग रही हो। तुमको तो मैंने बी० ए० तक अंगरेजी पढ़ा दी, तुम्हारी वही पढ़ाई क्षमा माँग रही है। जाओ...भीतर...आजकल की शिक्षा में शब्दों का खिलवाड़ खूब सिखलाया जाता है।"

संन्यास के प्रति कितना तीखा व्यंग्य मनोरमा करती है। आज भारत में संन्यास की यही कल्पना रह गई है कि जब शरीर शिथिल हो जाय, इन्द्रियाँ निर्जीव होने लगे तभी मनुष्य को संन्यास की आवश्यकता होती है। वह मुरारीलाल से कहती है, "और नहीं तो क्या मरने के समय, जब उँगलियाँ माला के साथ खिलवाड़ न कर सकेंगी...जब हाथ काँपने लगेगा तब?" इसी प्रकार मनोजशंकर से कहे गए मनोरमा के यह शब्द विधवा जीवन की विडंबना और विभीषिका पर कितना तीखा व्यंग्य करते हैं, "आर्य विधवा से बढ़कर कविता और दर्शन कहीं नहीं मिलेगा।"

मनोरमा पुरुष की नारी लोलुपता और वासना का कैसा सजीव चित्र उपस्थित करती है। नारी सदा से ही पुरुष के मोह की वस्तु है और पुरुष सदा ही वासना और सुन्दर नारी का लोलुप होता है। मनोरमा इस सम्बंध में कहती है, "क्षमा कीजियेगा पुरुष आँख के लोलुप होते हैं, विशेषतः स्त्रियों के सम्बंध में, मृत्यु-शय्या पर भी सुन्दर स्त्री इनके लिए सबसे बड़े लोभ की चीज़ हो जाती है।" इस प्रकार कथोपकथन चुटीले, प्रभावपूर्ण और भावों की गूढ़ता के साथ मानसिक विश्लेषण प्रस्तुत करने में भी सफल हैं।

पात्र तथा चरित्र चित्रण:—नाटककार ने इस नाटक में उच्च तथा निम्न दोनों ही वर्गों का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्रों का समावेश किया है। सरकारी अफसरों की मानसिक दशा और उनके नैतिक स्तर का भी दिग्दर्शन कराया है। इसमें भाग लेने वाले समस्त पात्र स्थान की आवश्यकता के अनुसार घटना की प्रभावोत्पादकता को बढ़ाने अथवा कथानक के द्वंद्वों को स्पष्ट करने में सहयोग देते हैं। चरित्रों की दृष्टि से नाटक के पात्रों का चरित्र क्रमिक रूप से विकसित होता है। मानवीय दुर्बलताओं का सजीव तथा मनोवैज्ञानिक चित्र उपस्थित करने का नाटककार का सफल प्रयास है। पात्रों की दृष्टि से मुरारी लाल, मनोजशंकर, चन्द्रकला तथा मनोरमा नाटक के प्रमुख पात्र हैं।

मुरारी लाल :—मुरारी लाल अंगरेजी शासन के समय के अफसरों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनका जीवन सदा सुख की मृग-तृष्णा में भटकता रहता है। वे अधेड़ आयु के डिप्टी-कलक्टर हैं। चन्द्रकला उनकी एक मात्र पुत्री है जिसका विवाह वह अपने मित्र के लड़के मनोजशंकर से करना चाहते हैं। वह भावुक होने के साथ ही साथ धन तथा अपनी वासना की पूर्ति के लिए उचित-अनुचित का ध्यान छोड़ देते हैं। प्रत्येक कार्य के सम्पन्न हो जाने के बाद ही वह पश्चात्ताप करते हैं। एक ओर तो वह भगवन्त सिंह से दस हजार रुपये लेकर रजनीकांत को मार्ग से हटा देने में उसकी सहायता करते हैं और दूसरी ओर उस सुन्दर युवक पर पितृत्व जाग्रत हो जाने पर तुरन्त ही भावुक हो जाते हैं और पश्चात्ताप के कारण भगवन्त सिंह को इन शब्दों में तिरस्कृत करते हैं, "मैंने कहा था? क्या कहता है बेईमान? मैंने कहा था कि पट्टीदार के मामले में अपने भतीजे को मार डाल? खून करने को मैंने कहा था?"

मुरारीलाल की भावनाएँ उनकी दुर्बलताओं के सम्मुख दब जाती हैं। धन का लोभ उनकी मानसिक तथा आत्मिक चेतना खो देता है। चालीस हजार का नाम लेते ही वह भगवन्त सिंह को बचा लेने का वायदा कर देते हैं पर उनकी आत्मा इसे स्वीकार नहीं करती। इस कथन

से उनका यह आन्तरिक द्वन्द्व स्पष्ट हो जाता है, "उससे कम नहीं...धरती फोड़कर, आकाश छेद कर जहाँ से हो सके उससे कम नहीं। बस चले जाओ। देखो यह न होने पाये। उस लड़के को चोट न लगे। सावधान.... बस...बस हो नहीं सकता, मैंने उसी दिन उसे अदालत में देखा था... अगर वह मेरा लड़का हुआ होता...उसका सुन्दर स्वस्थ मुख, उसकी वह रतनार आँखें—एक बार किसी दिन यहाँ भी आया था...हाँ याद आ रहा है। नहीं उठो चले जाओ...निकल जाओ। उसे चोट न आये...खड़े क्यों हो जाते क्यों नहीं?"

धन का इतना अधिक मोह होने के साथ ही उनमें मानसिक तथा शारीरिक दुर्बलताओं का भी पर्याप्त मात्रा में समावेश है। वह मनोरमा से अपना वासनात्मक प्रेम प्रकट करते हैं और उस समय उन्हें अपनी वय अथवा अन्य किसी बात का विचार नहीं रहता। मनोरमा उनकी पुत्री से भी छोटी है। वह उनके इस घृणित प्रस्ताव को इस प्रकार ठुकराती है, "हर्गिज़ नहीं, आप ही सोचिये दूसरों के दण्ड की व्यवस्था तो आप करते हैं, आपके दण्ड की व्यवस्था कौन करेगा?...और यह उचित भी नहीं है। कई दिनों से आप इस तरह का संकेत कर रहे हैं। आप अपनी मर्यादा भूल रहे हैं। मैं विधवा हूँ। मेरे साथ परिहास का कोई अर्थ नहीं।" इतना संकेत भी उनके लिए पर्याप्त नहीं और वह इसके प्रतिवाद में कहते हैं, "मैं तो केवल इसे परिहास नहीं सत्य बनाना चाहता था।"

इन दुर्बलताओं तथा मानसिक अस्थिरता के कारण ही वह सदैव असफल रहते हैं। उनको सभी ओर से निराश होना पड़ता है। मनोज-शंकर, चन्द्रकला और मनोरमा सभी उनसे विमुख हो जाते हैं। माहिरअली भी अपने रहस्य को व्यक्त कर अंत में उनकी उपेक्षा करता है। मनोजशंकर से इन शब्दों में अपना दुख और पश्चात्ताप व्यक्त करते हैं, "नहीं जी, कोई भी बुराई प्रायश्चित से मिट जाती है। मेरा प्रायश्चित पूरा हो गया। संसार में स्थान खोजने न निकलो, इसी स्थान को भर दो। चन्द्रकला का विवाह तुम्हारे साथ हो जाय, बाँसुरी बजाते हुए सुख से रहोगे। तुम्हें किसी

तरह का अभाव नहीं रहेगा। मेरे पास इतनी सम्पत्ति है कि..." आदि कथनों से उनके निराशामय जीवन की असफलता स्पष्ट हो जाती है।

मनोजशंकर :—मनोजशंकर नाटक में आधुनिक युग का प्रतिनिधित्व करने वाला युवक पात्र है। वह भावुक अवश्य है, पर है समय तथा परिस्थिति को ध्यान में रखकर चलने वाला। उसके पिता की हत्या का रहस्य उससे गुप्त रखा जाता है और यही उसके मानसिक द्वन्द्व का कारण है। इसी चिंता से उसका पढ़ाई अथवा अन्य किसी ओर ध्यान नहीं लगता। अत्यधिक भावुक होने के कारण वह विकल रहता है। मनोरमा से वह प्यार करता है। इस सम्बंध में वह मनोरमा से कहता है, "नहीं, उनका खिलवाड़ घड़ी दो घड़ी...दिन दो दिन का है। लेकिन तुम्हारा तो शायद मेरे जीवन के साथ ही समाप्त होगा। उसका अन्त तो मेरा अन्त है न ?"

मनोजशंकर स्वच्छन्द प्रेम का पक्षपाती है। वह प्रेम को मन की स्वाभाविक गति मानता है और उसमें विवाह अथवा समाज का कोई बन्धन आवश्यक नहीं समझता। वह मुरारी लाल के सम्मुख चन्द्रकला के रजनीकान्त के प्रति प्रेम का इन शब्दों में समर्थन करता है, "......बिल्कुल नहीं। प्रेम करना विशेषतः स्त्री के लिए कभी भी बुराई नहीं......स्त्री जाति की स्तुति केवल इसलिए होती है कि वे प्रेम करती हैं......प्रेम के लिए ही उनका जन्म होता है......स्त्री चरित्र की सबसे बड़ी विभूति उसका सबसे बड़ा तत्व प्रेम माना गया है और उस पर यह तो उसका पहला प्रेम है। उसमें बुराई कहाँ है ? प्रेम वकील से राय लेकर......जज से अधिकार-पत्र लेकर तो किया नहीं जाता। जो बात स्वतः स्वभाव है, प्रकृति है......वह तो चरित्र का गुण है, अवगुण नहीं।"

मनोजशंकर का जीवन निराशा और असफलता से घिरा रहता है। उसका मुरारीलाल से कहा गया यह कथन उसके संपूर्ण जीवन-चरित्र पर प्रकाश डालता है, "आपकी आशाएँ वैसी ही रहें......कुछ और बढ़ जाय। मुझे इस योग्य बना दीजिये कि मैं आसानी के साथ उनका आपकी

आशाओं का बोझ उठा सकूँ। आप अपना उपकार कीजिये। चन्द्रकला के मन में कोई जगत न बना सका......इसलिये नहीं कि मुझमें पुरुषत्व न था......या मुझमें वह कला, वह कौशल न था जिससे एक और एक हजार चन्द्रकला आँचल पसार कर भीख मांगती। मेरे पास केवल एक वस्तु न थी......मेरे मन में विषाद की जो आग जलती रही—इसलिये चन्द्रकला के लिए मुझमें कोई आशा न रही......उसने देख लिया मुझमें जो कुछ था नीरस था, दूसरी ओर रजनीकान्त एक सुन्दर सपने की तरह उसके सामने आया और क्षण भर में ही वह जीत गया—मैं हार गया! मैं पराजित होकर भी जी रहा हूँ—जीने का मतलब मेरे यहाँ रहना, इस वातावरण में स्त्री के लिए ज्ञान और विद्या का कोई मूल्य नहीं है। प्लेटो के प्रजातंत्र में कवि को कोई महत्व नहीं दिया गया था—स्त्री के प्रेम तत्व में बुद्धि और ज्ञान को कोई स्थान नहीं दिया गया है।"

चन्द्रकला—चन्द्रकला नाटक की प्रमुख स्त्री पात्र है। उसको लेकर ही प्रारम्भ से नाटक का कथानक आगे बढ़ता है। अपने पिता की एक-मात्र संतान होने के कारण वह उनके संपूर्ण प्रेम की अधिकारिणी है। शिक्षित होते हुए भी वह संस्कारगत भावुकता नहीं छोड़ पाई है। वह रजनी-कान्त के प्रति अपने आकर्षण को इन शब्दों में व्यक्त करती है, "लेकिन मैं तो इसे अपने कमरे में रखना चाहती थी...उसी दिन की स्मृति में, उसका वह हँसना, उसकी रतनार आँखें...लम्बी लम्बी, उसका वह उभरा हुआ मस्तक और उस पर काले बालों की दो चार लटें, पल भर में उसकी नजर कमरे में चारो ओर दौड़ गई—उसका हँसना तो जैसे एक साथ जुही के असंख्य फूलों का बरस पड़ना था।"...

चन्द्रकला उन्मुक्त तथा स्वच्छन्द प्रेम चाहती है। विवाह को वह केवल मानसिक तुष्टि का ही साधन मानती है। शारीरिक सम्बंध और विवाह दोनों ही नितान्त भिन्न वस्तुएँ हैं। वह कहती हैं, "तो विवाह तो मेरा भी हो गया है। हजार दो हजार आदमी भोजन न कर सके, दस-बीस बार शंख न बजा, थोड़े से मंत्र और श्लोक न पढ़े गये। यही न!" इसी

कारण वह अपने को विधवा मानती है। उसके विचार से समाज के साक्षी और प्रमाण के अभाव में भी स्त्री विधवा हो सकती है, यदि उसका प्रेमी न रहे। पुरुष और नारी का आकर्षण शारीरिक है। उसकी इसी भावना की ओर यह शब्द संकेत करते हैं, "...तुम स्वयं सोच लो मेरा वैधव्य...वह निर्विकार मुस्कराहट, यौवन और पुरुषत्व के विकास की वह स्वर्गीय आशा —मैं कल्पना करती हूँ पचीस वर्ष की अवस्था में वह शरीर और वह हृदय कैसा होता....इसीलिये कहती हूँ मेरा वैधव्य सार्थक है।" इस प्रकार चन्द्र-कला दलित भारतीय नारी के प्रति विद्रोह करने वाली बुद्धिवादी नारी है जो प्रत्येक वस्तु को बुद्धि के काँटे पर तौलकर अपनाना चाहती है फिर भी वह विवश है अपनी भावुकता से जो निराशा के कारण उन्माद में परिणित हो जाती है।

मनोरमा—नारी पात्रों में मनोरमा विवेकशील, त्यागी तथा परिस्थिति को ध्यान में रख कर चलने वाली है। स्पष्टवादिनी होने के कारण किसी से भी वह अपने व्यक्तिगत भावों को कहने में नहीं हिचकती। प्रारम्भ से ही वह मुरारीलाल और मनोजशंकर की वासना की कटु आलोचना करती है। एक स्थान पर मनोजशंकर से वह कहती हैं,..."दशाश्वमेध घाट पर भिक्षुकों में एक एक टुकड़े के लिए द्वन्द्व चल पड़ता है—वे सभी भूखे रहते हैं—ज्ञान के लिए वहाँ लेशमात्र भी जगह नहीं है। उन्हीं भिक्षुकों की तरह हो गई है तुम्हारी यह पुरुष जाति।" इसी कारण अन्यत्र वह मुरारी लाल को 'चैलेंज' कर कहती हैं, "भय की बात तो मैंने सीखी नहीं। लाल आँखों का असर अगर मेरे मन पर कुछ भी पड़ता तो अब तक नरक की सबसे निचली तह में पहुँच गई होती।"

मनोरमा के चरित्र की उक्त निर्भीकता तथा स्पष्टवादिता के साथ ही उसमें विवेक भी है। समाज की समस्याओं के मूल में नारी तथा पुरुष की समस्या को वह प्रधान रूप से पाती है। पुरुष नारी के लिए समस्या है और नारी पुरुष के लिए! वह कहती है, "पुरुष का सबसे बड़ा रोग स्त्री है और स्त्री का सबसे बड़ा रोग है पुरुष। यह रोग तो मनुष्यता का है और

शायद मनुष्यता के विकास के साथ ही इसका भी विकास हुआ है—हाँ पहले इसकी कुछ विशेष अवस्था थी—लेकिन अब तो इस रोग का आक्रमण सभी अवस्थाओं में हो जाता है...।"

वह सामाजिक कुरीतियों के प्रति आधुनिक सुधारों की भी कटु आलोचना करती है। विधवा विवाह से वह विधवा रहना अधिक उपयुक्त और न्याय संगत समझती है। इसके पक्ष में वह इस प्रकार तर्क उपस्थित करती है, "तुम उत्तेजित कर रहे हो। मैं विधवा हूँ इसलिये विधवा के पक्ष में वोट दूँ। यही न। लेकिन मैं यह न करूँगी। विधवाओं के उद्धार के नाम पर यह आन्दोलन पुरुषों ने उठाया है अपने उद्धार के लिए। किसी प्रकृत विधवा से पूछो जो अभी तक पुरुषों के विषैले वातावरण में न आयी हो...देखो उसकी दृष्टि पृथ्वी में गड़ जाती है या नहीं। तुम्हारी समझ में विधवाएँ समाज के लिए कलंक है, मैं समझती हूँ समाज की चेतना के लिए विधावाओं का होना आवश्यक है। तुम जीवन का, विशेषतः स्त्री के जीवन का दूसरा पहलू भी समझते हो...देखते हो...उसके भीतर संकल्प है, साधना है, त्याग और तपस्या है...यही विधवा का आदर्श है और यह आदर्श तुम्हारे समाज के लिए गौरव की चीज है...तुमने इसे कलंक कह दिया। जितनी कोशिश इस आदर्श को मार डालने के लिए हो रही है अगर उतनी ही कोशिश इसे जीवित रखने के लिए होती तो तुम्हारा समाज और परिवार आज दूसरी चीज होता।"

मनोरमा के जीवन की झाँकी से जो आदर्श जीवन का चित्र हमारे सामने उपस्थित होता है उस पर वह स्वतः खरी नहीं उतरती। जिस आदर्श भारतीय विधवा-जीवन की वह पक्षपातिनी है उसमें कल्पना मात्र में पर-पुरुष का ध्यान अथवा स्वप्न में भी किसी से प्रेम करने की स्वेच्छा नहीं रहती। वह मुरारी लाल के जिस वासनात्मक प्रेम-प्रस्ताव को ठुकराती है, और पुरुष जाति को लांछित करती है वह भावना मनोज के प्रति उतनी उग्र नहीं रहती। वह मनोज से एक स्थान पर कहती है, "यदि मैं सीधे शब्दों में कह दूँ कि तुम झूठ कह रहे हो...तुम्हारे हृदय को चोट पहुँचेगी।

लेकिन मैं यह चाहती नहीं। मैंने तुम्हारे साथ किसी तरह का खिल-वाड़ नहीं किया। मैं तुम्हें चाहती हूँ—तुम्हारे साथ एक प्रकार की आत्मीयता का अनुभव करती हूँ—लेकिन तुम जिस मोह में पड़ गये हो वह तो भयंकर है।" यह वास्तव में उसकी मानसिक दुर्बलता है। इतना ही नहीं वह अन्यत्र मनोज से कहती है, "इस तरह क्यों देख रहे हो, तुम्ही कहो मैं विधवा हूँ...इस ज्वालामुखी को यदि मैं कुछ समय के लिए छिपा भी लूँ...तब भी मैं किसकी बनूँ—तुम्हारी या डिप्टी साहब की! जहाँ तक मेरी बात रही...मैं तो उन्हें जी भर घृणा करना चाहती हूँ और तुम्हें जी भर प्रेम...अगर तुम मेरे प्रेम का अर्थ समझ सको...मुझे उसका अवसर दो। मैं तुम्हे अपना दूल्हा तो नहीं बना सकती...लेकिन प्रेमी बना लूँगी..." इन कथनों से उसके हृदय की दुर्बलता स्पष्ट हो जाती है। वह विधवा है, अतः मनोज को भी विधुर बनाना आवश्यक समझती है, "मैं विधवा हूँ और तुमको विधुर होना होगा। इस प्रकार हमारा सम्मिलन आज एक जीवन का नहीं अनेक जीवन का होगा..." मनोरमा के चरित्र में दो विरोधी भावनाएँ लक्षित होती हैं।

अभिनेयता की दृष्टि से नाटक सफल है। नाटक में दृश्य-परिवर्तन के बिना अंकों का विभाजन किया गया है। मिश्रजी का यह ख्याति प्राप्त सामाजिक नाटक सभी दृष्टियों से एक सफल और प्रभावपूर्ण रचना हैं।

प्रस्तुत नाटक की आलोचना करते हुए श्री रामप्रताप त्रिपाठी ने लिखा है, "इस नाटक के द्वारा मिश्रजी ने समाज के सामने एक समस्या रखने का प्रयत्न किया है। इस नाटक में जिन विचारों का प्रतिपादन मिलता है वह अधिकांशतया पश्चिमी वातावरण तथा शिक्षा से प्रभावित हैं।...मन के सूक्ष्म विश्लेषण में लेखक सफल है। नर और नारी दोनों के कोमलतम भावों के स्पर्श करने और सफल चित्रण में वह बहुत आगे है।' 'सिन्दूर की होली', में मनोरमा की ओर मुरारीलाल, और रजनीकान्त की ओर चन्द्रकला का आकर्षण ऐसा ही है।"

एकांकी नाटक

मिश्र जी ने कुछ सुन्दर और सफल एकांकियों की रचना की है। आपके दो एकांकी संग्रह—'प्रलय के पंख पर' और 'अशोकवन' प्रकाशित हो चुके हैं। एकांकी नाटकों की सफलता सुगठित कथावस्तु के साथ ही साथ स्वाभाविक और प्रभावपूर्ण कथोपकथनों पर ही अवलम्बित होती है। इस सम्बंध में डा० रामकुमार वर्मा तथा डा० दीक्षित लिखित 'एकांकी कला' की यह पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं, "कथोपकथन अथवा संवाद एकांकी का सबसे आवश्यक तत्व है। बिना कथोपकथन के एकांकी के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती...कथोपकथन वह साधन है जिसके द्वारा नाटकीय पात्र स्वविचार, स्वनुभूति तथा स्वभावों को व्यक्त करता है... असंगत न होगा यदि कहा जाय कि कथपोकथन ही एकांकी की आत्मा है, प्राण है।" एकांकी नाटकों में कथोपकथन के इस महत्व के सम्बंध में दो मत नहीं हो सकते। इसी पुस्तक में अन्यत्र प्रमुख नाटककारों का उल्लेख करते हुए लिखा गया है, "रंग-संकेतों की ओर ध्यान देने वालों में श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, डा० रामकुमार वर्मा, श्री भुवनेश्वर तथा सेठ गोविन्द दास आदि हैं। उनके एकांकियों में गाल्सवर्दी, इब्सन तथा बर्नार्डशा के व्यापक संकेत मिलते हैं।"

आधुनिक एकांकी नाटककारों में मिश्र जी का प्रमुख स्थान है। 'प्रलय के पंख पर' नामक एकांकी संग्रह में लेखक के छह एकांकी हैं। इस संग्रह के समस्त नाटक समस्या प्रधान हैं। मिश्र जी के अन्य नाटकों की ही भाँति इस संग्रह के एकांकी नाटकों में भी चार नाटक नारी समस्या से सम्बद्ध हैं और शेष दो नाटको में से एक में ग्रामीण किसानों की भूमि सम्बंधी समस्या और दूसरे में पारिवारिक द्वेष एवं कलह का चित्र प्रस्तुत किया गया है।

'प्रलय के पंख पर' (कथावस्तु) इस संग्रह का प्रथम नाटक 'प्रलय के पंख पर' है, जिसमें पिता-पुत्र का मतभेद और उससे उत्पन्न विषमता का चित्रण किया गया है। केशवचन्द्र पुराने विचारों के व्यक्ति

है, किन्तु उनका पुत्र दयाराम आधुनिकता के रंग में रँगा हुआ साम्यवादी विचारधारा का नवयुवक है। दयाराम जिस क्रान्तिकारी पार्टी का कार्यकर्ता है, मंजुला उसी की एक प्रमुख सदस्या है। दोनों का मेल-जोल बढ़ता है और दयाराम उसके यहाँ आधी-आधी रात तक बैठा रहता है। केशवचन्द्र को यह सब सह्य नहीं होता, विशेष रूप से अपने पुत्र का मंजुला के साथ एकांत में उठना-बैठना वह उचित नहीं समझते। इसके लिए वह दयाराम से कहते हैं और मंजुला को भी आने से रोक देते हैं। इसी को लेकर पिता-पुत्र में वाद-विवाद हो जाता है और पिता से विचार साम्य न होने के कारण दयाराम घर छोड़ कर चल देता है। उसके घर से निकलते ही भयानक आँधी आती है और बड़े जोर से वर्षा होने लगती है। ऐसी भयानक रात में पुत्र-प्रेम से केशवचन्द्र का हृदय व्याकुल हो उठता है। वह अपनी वृद्धावस्था का विचार न कर उसी समय दयाराम को ढूँढने निकल पड़ते हैं। मार्ग में आँधी से एक पेड़ उखड़कर गिरता है और वह उसके नीचे दब जाते हैं। उधर दयाराम घर से निकलकर मंजुला के यहाँ जाता है जहाँ उसे ज्ञात होता है कि वह उसी से मिलने के लिये गई है। दयाराम, मंजुला को पुकारता हुआ उधर से ही निकलता है, जहाँ पेड़ के नीचे उसके पिता केशवचन्द्र दबे पड़े हैं। केशवचन्द्र अपने पुत्र के मुँह से मंजुला का नाम सुनकर कहते हैं, "प्रलय की जीभ पर भी मंजुला का नाम है। बादल बोल रहा है मंजुला, धरती से मंजुला,...प्रलय की पीठ पर चढ़ कर चल रही है मंजुला..."

दयाराम अपने पिता का स्वर नहीं पहचान पाता है। केशवचन्द्र पुनः कराहकर उसी भावावेश में दयाराम को वापस लौट आने के लिए पुकारते हैं। इस बार दयाराम अपना नाम सुनकर तथा पिता का स्वर पहचान कर उन्हें पुकारता है, किन्तु अँधेरा होने के कारण ढूँढ नहीं पाता। पिता के प्रेम और ममता को देखकर उसका हृदय द्रवित हो उठता है और वह पिता को पुकार कर अपने अपराध की क्षमायाचना करता है। अकस्मात् उसी समय टार्च लिये मंजुला भी वहीं आ जाती है। वह

दोनों मिलकर मूर्छित केशवचन्द्र को पेड़ के नीचे से निकाल कर घर ले आते हैं। थोड़ी देर में केशवचन्द्र को धीरे-धीरे चेतना आती है। मंजुला उन्हें अपने हाथ से पानी पिलाती है और उनकी सेवासुश्रूषा करती है। केशवचन्द्र मंजुला से उसका पूर्ण परिचय प्राप्त करते हैं। मंजुला के यह बतलाने पर कि वह दयाराम की मित्र है केशवचन्द्र उसे भविष्य में मित्र न रहकर पति-पत्नी के रूप में रहने की आज्ञा प्रदान करते हैं। उनका विचार है कि मित्रता का सम्बंध पुरुष का पुरुष से और स्त्री का स्त्री से ही रह सकता है। इस प्रकार अंत में पिता का प्रेम पुत्र के विकार का उपचार करता है तथा पुत्र की सेवा-भक्ति पिता को क्षमा करने के लिए द्रवित कर देती है।

कथानक का गठन तथा पात्रों का चरित्र-चित्रण:—इस नाटक की कथा का गठन बड़े ही स्वाभाविक ढंग से किया गया है। प्राचीनता एवं नवीनता में सदैव विरोध रहता है, अतएव पुरानी लीक पर चलने वाले केशवचन्द्र और नवीन विचारों के समर्थक उनके पुत्र दयाराम के विचारों में विरोध होना स्वाभाविक ही है। दयाराम का यह विरोध अपने पिता केशवचन्द्र से नहीं वरन् उस पीढ़ी से है जो उसे बाँधकर रखना चाहती है।

पुत्र के घर छोड़ कर चले जाने पर केशवचन्द्र अधिक व्याकुल नहीं होते। आँधी और पानी के तूफान में उनकी यह व्याकुलता बढ़ती है और वह उसी समय दयाराम को ढूँढ़ने निकल पड़ते हैं। इस मनोवैज्ञानिक दृश्य को नाटककार ने बड़े ही सुन्दर तथा स्वाभाविक ढंग से चित्रित किया है।

इस नाटक के पात्रों के चरित्र द्वारा प्राचीनता एवं नवीनता में परस्पर विरोध दिखाकर भी अंत में नाटककार ने दोनों का समन्वय प्रस्तुत किया है। आधुनिकता का कट्टर पुजारी दयाराम अंत में अपने पिता के सम्मुख स्वीकार करता है, "पुराने से नया अलग नहीं है। कह रहा हूँ... विश्वास करें, अब ऐसा न होगा।" इसी प्रकार केशवचन्द्र के चरित्र में

भी अंत में समवन्वय का यह दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। वह अपने पुत्र दयाराम से कहते हैं, "तुम्हारी अवस्था में, इस मंजुला की अवस्था में, इस धरती के जीव यह पाप तभी से करते चले आ रहे हैं जब इस सृष्टि में बस दो ही थे। अदन के वन में चाहे वह आदम और हौआ थे या हिमालय की चोटी पर मनु और शतरूपा और यदि समझते हो कि तुम पापी हो तो अपने पाप को भी पुण्य बना सकते हो।"

दयाराम और उसके पिता केशवचन्द्र अपने-अपने पक्ष के समर्थन में जो तर्क प्रस्तुत करते हैं, उनमें से कहीं-कहीं दयाराम के तर्क बुद्धि की कसौटी पर चाहे ठीक उतरें, किन्तु सामाजिक दृष्टि से उचित नहीं प्रतीत होते। उदाहरणार्थ दयाराम का अपने पिता से यह कहना, "मैंने नहीं कहा था कि आप मुझे जन्म दें। स्त्री के पास पुरुष पुत्र के लिए नहीं जाता है।" आदि अश्लील प्रतीत होने लगता है। भारतीय विचारधारा के अनुसार विवाह का मुख्य उद्देश्य ही पुत्र-प्राप्ति है। इसके अतिरिक्त दयाराम के स्वप्न का वह समाज जिसमें बालक की माँ जानी जायगी, पिता कौन है, इसकी चिंता किसी को न होगी, कल्पना की उड़ान ही कहा जा सकता है। वह इसके पक्ष में कहते हैं, "बछड़ा गाय का कहा जाता है, किस साँड़ से पैदा हुआ कौन जानता है?" भारतवर्ष में ऐसे समाज की कल्पना करना, स्वयं अपने को धोखा देना है।

केशवचन्द्र की विचारधारा और उनके तर्क भी कहीं-कहीं खटकते अवश्य हैं। वह दयाराम के चरित्र और उसके अन्य समस्त दुर्गुणों का मूल कारण आधुनिक शिक्षा बताते हुये कहते हैं, "शिक्षा और स्वतंत्रता का यह अर्थ नहीं है। इस देश में यह शिक्षा विष बन कर आयी थी।" इसके अतिरिक्त वह एक अन्य स्थान पर क्रोध में कहते हैं, "यह मेरा घर है, सराय नहीं है। सबेरे से आधी रात तक आवारे मर्द तो यहाँ नेताजी के लिए आते ही हैं, कालेज की बिगड़ी लड़कियाँ भी आने लगीं। यह देश रूस नहीं बनेगा।" उनका यह अंतिम वाक्य रूस के सम्बंध में उनकी असत्य और एकांगी धारणा स्पष्ट कर देता है। रूस क्या है, वहाँ की

सभ्यता, सामाजिक नियम, तथा वहाँ की वास्तविक स्थिति जाने बिना इस प्रकार कीचड़ उछालना उचित नहीं जान पड़ता।

प्रस्तुत एकांकी की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें पात्रों का चरित्र-चित्रण अत्यन्त स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से किया गया है। नाटक की समस्या आज के भारतीय समाज की एक प्रमुख समस्या है। कथानक तथा सुन्दर कथोपकथनों के कारण नाटक प्रभावपूर्ण है।

बालू से तेल :—प्रस्तुत एकांकी नाटक 'प्रलय के पंख पर' में संग्रहीत द्वितीय नाटक है। इस नाटक में मिश्रजी ने कौटुम्बिक कलह का चित्र अंकित किया है। इसके साथ ही साथ दुर्भावनाओं के ऊपर सद्भावनाओं की विजय दिखाकर नाटककार ने अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।

कथावस्तु:—जगदीश अपने एकमात्र पुत्र रंजन की मृत्यु से अत्यन्त दुखी है। उसकी पत्नी विमला दुखातिरेक में शीशे में लगे हुए रंजन के चित्र को अपने सर पर पटक लेती है जिससे शीशे के अनेक टुकड़े उसके मुँह पर गड़ जाते हैं। विमला को जितना दुखः अपने पुत्र की मृत्यु से है उससे कहीं अधिक अपने देवर भोलानाथ की बातों से है जो रंजन की मृत्यु का कारण विमला की असावधानी बतलाता है। भोलानाथ अपने बड़े भाई जगदीश से आंतरिक द्वेष रखता है। यहाँ तक कि रंजन की मृत्यु के दिन भी वह कपड़ों में इत्र छिड़क कर बड़े भाई के घर जाता है और उसी दिन अपने घर में उत्सव मनाता है। उसकी पत्नी किशोरी इसका विरोध करती है, परन्तु भोलानाथ उसकी उपेक्षा कर देता है।

दूसरी ओर जगदीश पुत्र की मृत्यु में अपने पूर्व जन्म के कर्मों का फल देखता है और भोलानाथ की मंगल-कामना के लिए अपनी पत्नी को भी प्रेरित करता है। इतना ही नहीं वह अपनी पत्नी को सावधान कर देता है कि भोलानाथ के आने पर वह उससे कोई ऐसी बात न कहे जिससे उसे चोट पहुँचे। भोलानाथ की माँ और उसकी पत्नी किशोरी नौकर के साथ पैदल ही घर से चल देती है। मार्ग में अत्यधिक थक जाने के कारण जगदीश के घर पहुँचते ही माँ बेहोश होकर गिर पड़ती है। किशोरी की आवाज

सुनकर जगदीश और विमला दरवाजे से माँ को उठा ले जाते है। थोड़ी देर बाद माँ को होश आता है। जगदीश विमला को माँ की सेवा के लिए छोड़ कर बाहर आता है जहाँ उसे अंधेरे में भोलानाथ खड़ा दिखायी देता है। भोलानाथ अपने बड़े भाई जगदीश के पैरों पर गिर कर क्षमा-याचना करता है और जगदीश उसे क्षमा कर देता है। भोलानथ के नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगती है और वह काँपते हुए स्वर में जगदीश से कहता है, "मैं अब तक बालू से तेल निकालता रहा। कितना मूर्ख था मैं!"

कथानक का संगठन तथा पात्रों का चरित्र-चित्रण :— कौटुम्बिक कलह आज के भारतीय समाज की मुख्य समस्या है। भोला नाथ का चरित्र परिवार के उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है जिसके हृदय में अपने बड़े के लिए प्रारम्भ से ही द्वेष भावना रहती है। यहाँ तक कि वह जगदीश के एक मात्र पुत्र की मृत्यु पर अपने मित्रों को दावत देकर पुरानी 'खार' निकालता है। दूसरी ओर जगदीश का चरित्र साधु-प्रकृति का है। वह अपने पुत्र की मृत्यु का कारण अपने पूर्व जन्म के कर्मों का फल समझ कर सन्तोष करता है। उसकी पत्नी विमला का चरित्र साधारण अंधविश्वासी भारतीय नारी का चरित्र है और इसी कारण उसे सन्देह होता है कि उसके पुत्र की मृत्यु के लिए भोला नाथ ने कोई पूजा-पाठ न कराया हो। अपने पति जगदीश की भाग्यवादी विचारधारा पर वह क्रोधित होकर कहती है, "तुम्हारा वह भाई जो बाप की सारी कमाई हड़प कर बैठ गया, घर-बार, बाग-बगीचे, गहने-कपड़े की बात कौन कहे, तिजौरी और बैंक की रोकड़, खाते की रकम भी जिसने तुम्हें तिकड़म से न लेने दिया वह साधु है! उस पर वज्र क्यों नहीं पड़ता?" प्रायः ऐसा देखा जाता है कि आपस के द्वेष का मूल कारण स्त्रियों को बतलाकर सारा दोष उन्हीं के ऊपर डाल दिया जाता है। इसका खंडन करते हुए विमला कहती है, "भाइयों की आपस में नहीं बनती और दोष दिया जाता है स्त्रियों को।"

नाटक के अंत में असद्वृत्तियों पर सद्वृत्तियों की विजय दिखलायी गई है। भोलानाथ जो जगदीश से इतना द्वेष रखता था, अंत में उनके

गुणों से प्रभावित होकर क्षमा मांगता है और पश्चात्ताप तथा आत्मग्लानि द्वारा अपने हृदय की कालिमा दूर करता है। साधारण कोटि का यह नाटक अन्य दृष्टियों से सफल है।

मेड़ तोड़ दी :—'प्रलय के पंख पर' एकांकी नाट्य-संग्रह में संगृहीत यह चतुर्थ नाटक है। इसका कथानक ग्रामीण किसानों के जीवन से सम्बद्ध है। देहातों में किसानों के झगड़े का मुख्य कारण 'मेड़' होती है। इसी प्रकार की एक घटना को लेकर इस नाटक की रचना की गई है।

कथावस्तु :—रघुनाथ गाँव का ऐसा किसान है जो अपने शारीरिक बल के सहारे सबसे लड़ने को तैयार रहता है। उसके खेत के बाद भोला चौधरी का खेत है।रघुनाथ, भोला के खेत की मेड़ तोड़ कर अपने खेत की सीमा बढ़ा लेता है। भोला धार्मिक प्रवृत्ति का होने के कारण स्वयं कुछ नहीं करता, किन्तु उसका पुत्र बनवारी इसका विरोध करता है। रघुनाथ अपने तीन भाई तथा अन्य आदमियों को लेकर उसे मारकर गिरा देता है। भोला अपने घायल पुत्र को सरकारी अस्पताल ले जाता है जहाँ उपचार आदि में वह बच जाता है। गाँव के अन्य लोग जो रघुनाथ से डरते रहते थे उसके इस कार्य से क्षुब्ध होकर उसके विरुद्ध मुकदमे में गवाही देने को तैयार हो जाते हैं। रघुनाथ अपने को बचाने के लिए डाक्टर को घूस देने का प्रयत्न करता है, किन्तु उसे सफलता नहीं मिलती। उसके ऊपर मुकदमा चलता है। रघुनाथ अपने बचने का अन्य कोई उपाय न देख कर भोला के पैरों पड़ कर क्षमा-याचना करता है। भोला का हृदय द्रवित हो उठता है, किन्तु गाँव वालों से राय लिये बिना वह उसे क्षमा कर सकने में असमर्थता प्रकट करता है। वह किसी प्रकार का प्रतिशोध नहीं लेना चाहता और पंचों की राय के अनुसार कार्य करने तैयार हो जाता है। अंत में गाँव में स्थित मंदिर में पंचायत के सामने रघुनाथ भोला से क्षमायाचना करता है। भोला उसे क्षमा करते हुए कहता है कि वह यह नहीं चाहता कि उसकी मृत्यु के बाद कोई यह कहे कि उसने रघुनाथ को जेल भिज-

वाया । इस प्रकार अदालती न्याय की अपेक्षा दैवी और पंचायती न्याय में विश्वास करके भोला रघुनाथ को क्षमा कर देता है ।

कथानक का गठन और चरित्र-चित्रण :—इन नाटक का कथानक अत्यन्त सजीव और स्वाभाविक है। नाटक के पढ़ने से गाँव का वास्तविक चित्र आँखों के सामने घूम जाता है। नाटककार ने अन्य नाटकों के समान इसमें भी असद्वृत्तियों के ऊपर सद्वृतियों की विजय दिखलायी है। भोला और रघुनाथ क्रमशः इसके प्रतीक हैं।

नाटक के मध्य में सरकारी अदालत डाक्टर तथा थानेदार आदि की अनैतिकता का भी चित्र प्रस्तुत किया गया है। अदालत के सम्बंध में भोला कहता है, "तब कहो कि अदालत में भी धूर्त और चालाक निपटता है, वहाँ भी भगवान का न्याय नहीं होता।" बनवारी भी अपने पिता के इस कथन का समर्थन करता हुआ कहता है, "बिल्कुल नहीं बाबू...... वहाँ रुपये और अकिल का जाल फैलता है।" थानेदार को जब यह विदित होता है कि भोला ने रघुनाथ को क्षमा कर दिया है तो उन्हें इस बात की चिंता नहीं होती कि अत्याचारी दण्ड नहीं पा रहा है वरन् वह सोचते है कि जब उसे छूटना ही था तो यदि वह प्रारम्भ में ही कुछ रुपये लेकर मुकदमा बिगाड़ देते तो ठीक था।

नाटक में ग्रामीण पात्रों के अनुकूल भाषा का प्रयोग होने से उसमें स्वाभाविकता के साथ ही साथ सजीवता आ गई है। अशिक्षित भारतीय किसानों का वास्तविक चित्र उपस्थित करने में प्रस्तुत एकांकी सफल है।

गंगा की लहरें (कथावस्तु) :—'प्रलय के पंख पर' में संगृहीत 'गंगा की लहरें' मिश्र जी का पंचम एकांकी नाटक हैं। श्री चन्द्र शिक्षित और चरित्रवान युवक हैं। यमुना नामक लड़की की उसके भावी शराबी पति से रक्षा करने के विचार से वह उसे लेकर भाग जाता है। यमुना, श्री चन्द्र से प्रेम करती है और उसके साथ रहते हुए अपने प्रेम का प्रतिदान चाहती है। 'उसकी हर सांस में, हर चेष्टा में, हर बार के देखने और बोलने में, हर क्षण निमंत्रण का भाव बना रहता है।' श्रीचन्द्र विवाह के

पूर्व 'संयोग' को पाप समझता है अतः वह यमुना के इन वासनात्मक भावों की उपेक्षा करता है। यमुना अपनी इच्छा पूरी न होती देख न्यालय में यह कहती है कि श्रीचन्द्र उसे बल पूर्वक भगा ले गया था। डाक्टर अपनी परीक्षा में यमुना को नाबालिग घोषित करते हैं। इस प्रकार नाबालिग लड़की को भगाने के अभियोग में श्रीचन्द्र को सात वर्ष कारावास का दण्ड मिलता है।

कारावास से छूटने पर श्रीचन्द किसी न किसी प्रकार यमुना से मिलने के लिए विकल रहता है। वह उससे मिलकर उसके इस परिवर्तन की वास्तविकता जानना चाहता है। श्रीचन्द को विदित होता है कि यमुना का विवाह हो गया है और वह उसके मित्र रामधन के घर के समीप कहीं रहती है। रामधन, श्रीचन्द को अपने घर में आश्रय देता है। इसी बीच एक दिन यमुना का शराबी पति नशे में चूर घर आता है। यमुना उसकी दशा देख भय से रामधन के घर भाग आती है। रामधन को अपने घर में श्रीचन्द से बातें करते देखकर उसको बड़ा आश्चर्य होता है और वह घबराकर गिर पड़ती है। रामधन के पूछने पर यमुना उसे बताती है कि उसका पति शराब पीकर आया है और उसी के डर से वह भाग आयी है। वह कहती है कि विवाह के पूर्व ही उसे मालूम हो गया था कि उसका पति शराबी है और इसीलिये वह श्रीचन्द के साथ भागी थी। वह यह भी स्वीकार करती है कि श्रीचन्द पूर्णतया निर्दोष है। वह श्रीचन्द से कहती है कि मैं अब भी तुम्हें हृदय से प्यार करती हूँ और तुम मुझे इस शराबी पति से छुटकारा दिला सकते हो। श्रीचन्द उसे विवाहिता नारी समझकर आनाकानी करता है। इस पर यमुना कहती है कि यद्यपि उसका विवाह हो चुका है, किन्तु उस शराबी पति ने आज तक उसका स्पर्श भी नहीं किया है। अंत में वह यमुना के आग्रह की उपेक्षा नहीं कर पाता और कुमारी यमुना को न अपना कर जो कायरता उसने दिखलायी थी, उसका परिहार वह विवाहिता यमुना को प्रणयदान देकर करता है।

प्रस्तुत नाटक का कथानक स्वाभाविकता की दृष्टि से सफल नहीं

कहा जा सकता। यमुना का हृदय से श्रीचन्द को प्यार करना और दूसरी ओर उस पर झूठा अभियोग लगाना खटकता है।

इस संग्रह के अन्य दो एकांकी नाटक 'धरती के नीचे' तथा 'चकाचौंध' हैं। यह दोनों ही समस्यात्मक सामाजिक नाटक हैं। प्रथम नाटक में राजाराम वकील की पुत्री मोहिनी और कृपाशंकर के प्रेम और उससे उत्पन्न सामाजिक विषमता का चित्रण किया गया। यद्यपि इस नाटक के कथानक में कोई विशेषता नहीं दिखायी देती फिर भी वह रोचक और सफल हैं। कृपाशंकर का चरित्र बड़े ही स्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

'चकाचौंध' नामक एकांकी नाटक में देश की बढ़ती हुई जनसंख्या पर प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त 'प्रलय के पंख पर' नाटक के समान ही इसमें भी प्राचीन एवं नवीन विचार धारा के द्वन्द्व का सफल चित्रण किया गया है। नाटक का मुख्य पात्र मनोहर अपने दादा के विवाह न करने के पक्ष में तर्क देता हुआ कहता है, "अब समय परिवर्तित हो गया है। 'अपुत्रस्य गतिमनास्ति' की जगह अब चलेगा 'सपुत्रस्य गतिम नास्ति' तब जिसे पुत्र नहीं होता था वही नरक में जाता था, अब जिसे पुत्र होगा वही नरक में जायेगा।" इस प्रकार के कथोपकथनों द्वारा देश की जनसंख्या की समस्या पर प्रकाश डाला गया है। नाटक सफल और रोचक है।

एक दिन

हमारे विचार से मिश्र जी का सर्वोत्तम एकांकी नाटक 'एक दिन' है। यह रचना नेहरू अभिनन्दन ग्रन्थ में जो पंडित जवाहर लाल नेहरू को उनकी ६० वीं वर्ष गाँठ के अवसर पर १४ नवम्बर सन् १९४९ को समर्पित किया गया था, संकलित है। हिन्दी-संसार के लिये यह गौरव की बात है कि हिन्दी के नाटककारों में से मिश्र जी का यह नाटक इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ में संकलित किया गया। नाटककार का यह सर्वोत्तम एकांकी होने के कारण यह आवश्यक है कि इस रचना का अन्य एकांकी नाटकों की अपेक्षा विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया जाय।

कथा वस्तु :—प्रस्तुत नाटक में जीवन की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण

समस्या विवाह के पूर्व लड़की देखने की सामाजिक रीति का आधार लेकर कथानक निर्मित किया गया है। नाटक का आरम्भ देहात के एक गाँव में राजनाथ के मकान में पिता-पुत्र की बार्तालाप से होता है। राजनाथ वंश की मर्यादा और भारतीय आदर्श पर सर्वस्व अर्पित कर देने को तैयार रहते हैं। मोहन उनका पुत्र और शीला पुत्री है। मोहन अपनी बहन शीला की शादी धनी परिवार के अपने मित्र निरंजन के साथ करना चाहता है। निरंजन इसी विचार से गाँव में लड़की देखने आता है। राजनाथ इसे अपनी मर्यादा और परंपरा के विरुद्ध बताते हुए इसका विरोध करते हैं, किन्तु मोहन इसके पक्ष में कहता है कि आजकल कोई भी शिक्षित लड़का लड़की को देखे बिना शादी नहीं करता। राजनाथ आधुनिक सभ्यता और रीति-रिवाजो को पूर्णतया अभारतीय बताते हुए इसे देश की उन्नति में बाधक सिद्ध करते हैं। वह मोहन से कहते हैं कि विवाह के पूर्व जो लड़का स्वयं लड़की देखना चाहता है, वह पसन्द करने का अधिकार केवल अपना मानता है, कन्या का नहीं। अंत में राजनाथ शीला को निरंजन से बातें करने की आज्ञा प्रदान करते हैं। शीला कहती है कि वह आज निरंजन से बातें कर उसे इस योग्य न रखेगी कि वह फिर कभी किसी के साथ ऐसा व्यवहार करने का साहस कर सके। शीला अपने तर्कों और भारतीय आदर्शों द्वारा निरंजन को पराजित करती है। वह निरंजन से कहती है, "आपकी अवस्था का पुरुष जब मेरी आयु की लड़की के पास जाता है, अन्धा हो जाता है···और कहीं संयोग से लड़की सुन्दरी हुई तो वह उन्मत्त हो उठता है। अन्धा क्या देखेगा ? उन्मत्त क्या समझेगा ? इसलिये अपने आप न देखकर दूसरे से दिखा लेना आप ऐसों के हित की बात है। आप को साहस कैसे हुआ कि यहाँ तक चले आये मुझे देखने के लिए ?" शीला निरंजन के व्यक्तित्व और उसकी विचारधारा की उसके सम्मुख अत्यन्त कड़े शब्दों में आलोचना करती हैं। निरंजन शीला के तर्कों का उत्तर नहीं दे पाता और पराजित होकर अपनी दुर्बलताएँ स्वीकार करता है। शीला उससे कहती है कि इस देश में कन्या के प्रार्थी पुरुष होते रहे हैं, अतः उसे

भी उसके पिता की स्वीकृति प्राप्त करना चाहिए। अंत में निरंजन शीला से कहता है, "इस एक दिन में मेरा सारा जीवन समा गया इसके पहले जो कुछ था और बाद में जो कुछ होगा।" यहीं पर एकांकी समाप्त होता है।

कथोपकथन :—नाटक के कथोपकथन अत्यन्त प्रभावपूर्ण हैं। उनकी भाषा सुगठित और स्वाभाविक है। नाटक के पात्र सरलतापूर्वक अपने मनोभावों को छोटे छोटे वाक्यों में व्यक्त कर देते हैं। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं व्यंग्य के भी चुभते हुए उदाहरण मिलते हैं। शीला एक स्थान पर महारानी जानकी की धर्म भीरुता का उल्लेख करते हुए कहती है," जी वे भाषण न दे सकी। दशरथ को ललकार न सकीं। रामचन्द्र से न कह सकीं कि तुम अपने पिता के धर्म के लिए वन जा रहे हो, मेरे रूप और यौवन की ओर नहीं देखते। आज की नारी यही कहेगी।"

नाटककार का भाषा पर अच्छा अधिकार है। पात्रों की मनोदशा के अनुकूल भाषा का प्रयोग होने से नाटक के संवाद स्वाभाविक तथा प्रभावपूर्ण हैं।

चरित्र-चित्रण :—इस एकांकी नाटक में कुल चार पात्र हैं—राजनाथ; उनका लड़का मोहन निरंजन और पुत्री शीला। निरंजन का चरित्र आधुनिक युग के शिक्षित नवयुवकों का प्रतिनिधित्व करता है। इन थोड़े से पात्रों को लेकर नाटककार ने जिस कुशलता से कथावस्तु का संगठन और पात्रों का चरित्र चित्रित किया है; वह प्रशंसनीय है। नाटक में राजनाथ और उसकी पुत्री शीला ही प्रमुख पात्र हैं, अतः हम यहाँ उनके चरित्र का विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

राजनाथ:—राजनाथ वंश की परंपरा और मर्यादा के लिए अपना सर्वस्व छोड़ने को तैयार रहते हैं। वह अपनी कन्या शीला को विवाह के पूर्व निरंजन से मिलने का विरोध करते हैं। उनका पुत्र मोहन उनसे कहता है कि इसमें कोई बुराई नही है और इस देश की मर्यादा के यह विरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि यहीं स्वयंवर की प्रथा थी। इस पर राजनाथ कहते हैं, "इस देश की क्या मर्यादा है, तुमसे न सीखूँगा। उसे सीखने के लिए किसी

विलायती प्रोफेसर के पास भी न जाऊँगा। वह तो जिस तरह मेरे पूर्वजों के रक्त के रूप में मेरे इस शरीर में है, उसी तरह संस्कार के रूप में मेरे मन में है...लड़कियों का स्वयंवर यहाँ होता था पर चुनता कौन था? कन्या या वर? एक कन्या के लिए सैकड़ों युवक आते थे। रूप, गुण पौरुष में जो बढ़ा होता उसे कन्या चुनती...।" प्राचीन भारतीय आदर्शों पर उनकी अटूट निष्ठा और विश्वास है। इन आदर्शों को त्याग कर आधुनिकता में बहना उन्हें स्वीकार नहीं और इसी कारण वह कहते हैं...बिना इन सपनों के मनुष्य दरिद्र हो उठेगा। इन्ही से हम धनी हैं मोहन! इतिहास पढ़ते हो तुम एम० ए० में और वह निरंजन भी। निकाल दो इतिहास से इन सपनों को देखो वहाँ फिर क्या बचता है? फिर भी इतिहास का एक ही पाठ है...तुम्हारे शब्दों में, तुम्हारे इस युग में, इस देश की नई पीढ़ी बोल रही है, जिसका विश्वास अब अपनी जड़ों में नहीं है।"

राजनाथ का चरित्र एक ऐसे व्यक्ति का चरित्र है जो अपनी मान्यताओं और आदर्शों का त्याग कर आधुनिकता के रंग में अपने चरित्र को रंगने के लिए किसी भी मूल्य पर तैयार नहीं। वह इस आधुनिकता का खंडन करते हुए कहते हैं, "इस युग में हम अपना सब कुछ विदेशी आँखो से देख रहे हैं। स्वतंत्रता का उत्सव हम मना रहे हैं, अपने को भूल कर अपने गुण और अपनी मान्यताओं को भूल कर। आगे चलने में जो पीछे घूम कर देखते नहीं थे, वही अब दूसरों के पीछे सरपट दौड़ रहे हैं..." इतना ही नहीं वह आधुनिक शिक्षित भारतीय नवयुवकों की शिक्षा और चरित्र की कटु अलोचना करते है। देशवासियों की वर्तमान हीन दशा का प्रमुख कारण नैतिकता का अभाव बताते हुए वह कहते हैं, "तीस करोड़ के इस देश में आज तीस भी हँसने वाले नहीं हैं। इसका कारण केवल आर्थिक नहीं, नैतिक भी है। आर्थिक होता तो कम से कम मिल-मशीन वाले पूँजी और चोर बाजार वाले तो हँसते? उनकी तिजौरियाँ भरी हैं, पर मन खाली है। चरित्र बल अब हमारी धरती में नहीं है। जो पीढ़ी आ रही हैं उसका नमूना निरंजन है, मोहन है। देखो इन्हें, खड़े-खड़े काँप

रहे हैं जैसे अभी रो पड़ेंगे या गिर पड़ेंगे। यह नयी शिक्षा क्या हुई चरित्र की बागडोर छोड़ दी गई। मन के विकार और भावना की आँधी में सेमर की रूई सी हमारी यह पीढ़ी उड़ी जा रही है।" इस प्रकार संक्षेप में हम कह सकते हैं कि राजनाथ के चरित्र द्वारा नाटककार ने अपने उन विचारों को व्यक्त किया है जिनमें भारतीय आदर्श और मान्यताओं द्वारा देश और समाज की उन्नति करना उसका ध्येय है। वास्तव में नाटक के इस प्रभाव पूर्ण चरित्र को चित्रित करने में उसे अत्यधिक सफलता मिली है।

शीला :—शीला का चरित्र उस भारतीय नारी का चरित्र है जिसका अपने पिता की ही भाँति प्राचीन आदर्शों और मान्यताओं पर अटूट विश्वास है। वह अपने कारण पिता को दुखी देखकर व्याकुल होती है और स्वयं उनकी यह चिंता दूर करने के लिए तैयार हो जाती है। वह अपने भाई से कहती है कि निरंजन से मिल कर वह उसका भ्रम-निवारण करेगी। वह कहती, है "मैं उसे इस योग्य नहीं छोड़ूँगी कि फिर वह किसी स्त्री के साथ ऐसा व्यवहार करे। चाहिए तो यह था कि लुकछिप कर मैं उसे देखती और जब लुकछिप कर मुझे देखना उसने चाहा तो फिर चाहे उसकी देह सोने के पत्थर में मढ़ी हो, उसके भीतर वह पुरुष कहाँ है जिसकी ओर मैं..." उसके विचार से पुरुष का एकमात्र गुण है संयम और जिसमें यह नहीं उसका कोई अस्तित्व ही नहीं। अपने इसी भाव को वह इन शब्दों में व्यक्त करती है, "वह खींचना चाहता था अपनी चटक-मटक से, अपने उतावलेपन से, शिक्षा और धन के दम्भ से। किसी न किसी बहाने मैं बराबर उसके पास रहूँ, मुझे देखता रहे। मुझसे बातें करता रहे। मेरे भीतर उसके लिए कुछ छिपा न रहे दो ही दिन में वह सब कुछ जान जाय, उसकी सारी भूख मिट जाय... पुरुष का गुण न धन है, न रूप, न विद्या, कहाँ तक वह अपने को रोक पाता है, कितना संयम उसमें है?"

शीला के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है, प्राचीन परंपराओं और आदर्शों में उसकी निष्ठा और विश्वास। जब मोहन उसे समझाते हुए कहता है कि न तो तुम जानकी हो और न अब वह युग ही रहा तो उत्तर

में वह कहती है, "जानकी का युग इस देश से कभी नहीं मिटेगा। मैं जानकी हूँ। इस देश की कोई भी स्त्री जानकी है। जब तक हमारे भीतर जानकी का त्याग है, जानकी की क्षमा है, तब तक हम वही हैं। तुम्हारे लिए जानकी पौराणिक हैं इसलिये असत्य हैं। मेरे लिए वह भावगम्य हैं। उनके भीतर मेरी सारी समस्याएँ, सारे समाधान हैं। राम में तुम अविश्वास कर सकते हो, जानकी में अविश्वास का अधिकार तुम्हें नहीं है।" उपर्युक्त कथन से शीला का चरित्र पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाता है। उसका यह अटूट विश्वास ही उसकी शक्ति और साहस का रहस्य है। उसका यह कथन कोरा आदर्श ही नहीं है वह स्वयं इसका अनुकरण करती है।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि कथावस्तु तथा चरित्र-चित्रण, प्रत्येक दृष्टि से यह एकांकी नाटक उच्चकोटि का है। कथोपकथन की भाषा स्वाभाविक और प्रभावपूर्ण है। पात्रों के चरित्र पाठकों पर गहरा प्रभाव डालने में समर्थ हैं। इस नाटक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसका अभिनय भी बड़ी ही आसानी से किया जा सकता है।

भगवान मनु तथा अन्य एकांकी

प्रस्तुत एकांकी संग्रह कुछ ही मास पूर्व प्रकाशित हुआ है। इसमें नाटककार के कुल पाँच एकांकी संगृहीत हैं। प्रथम एकांकी 'भगवान मनु' है जिसमें पौराणिक कहानी के अनुसार प्रलय के बाद मनु द्वारा नयी सृष्टि की रचना का नाटकीय चित्र प्रस्तुत किया गया है।

इस एकांकी के कथानक में नवीनता न होते हुए भी प्रलय से मनु की रक्षा और सृष्टि के क्रमिक विकास का लेखक ने रोचक चित्रण किया है। आरम्भ में मनु घोर तपस्या में लीन दिखाये गए हैं। वह केवल यही वरदान माँगते हैं कि सृष्टि पर जब कभी कोई संकट आये तो वह इसकी रक्षा करने में समर्थ हों।

प्रलय होने पर सब कुछ नष्ट हो जाता है। अकेले मनु हिमालय के शिखर पर पहुँचते हैं जहाँ उन्हें श्रद्धा के दर्शन होते हैं। दोनों एक दूसरे के प्रणय पाश में बँधकर यज्ञ करते हैं जिसके फलस्वरूप वशिष्ठ द्वारा उन्हें

पुत्र-लाभ होने का आशीर्वाद प्राप्त होता है। देवी श्रद्धा कन्या की कामना करती हैं और इस कारण कन्या का जन्म होता है। मनु पुत्र के स्थान पर कन्या के जन्म से दुखी होते हैं। महर्षि वशिष्ठ और मनु दोनों की तपस्या के फलस्वरूप कन्या बदल कर पुत्र हो जाती है। अंत में मनु को बारह आध्यायों की संहिता पूरी कर श्रद्धा के साथ संसार का त्याग करते हुए दिखाया गया है।

मनु के त्यागी और तपस्वी स्वरूप को चित्रित करने में नाटककार को पर्याप्त सफलता मिली है। उनकी साधना और तपस्या का एकमात्र उद्देश्य लोक रक्षा है। वे कहते हैं, "लोक की रक्षा भगवान, मैं करूँ। इस सृष्टि पर जब संकट आये, प्रलय से मैं इसे बचाऊँ, देव! लोक की रक्षा और सेवा का पद मैं चाहता हूँ, इन्द्र का पद किसी दूसरे तपस्वी को देना पितामह।"

श्रद्धा मनु के लिए देवलोक का त्याग करते हुए कहती है, "एक मरने वाले के लिए जीना अनेक न मरने वालों के लिए जीने से अच्छा है।" श्रद्धा के इस त्याग और प्रेरणा से मनु पुनः कर्म में रत होते हैं और इस प्रकार नवीन सृष्टि आरम्भ होती है। संक्षेप में इस एकांकी के सम्बंध में हम यह कह सकते हैं कि पौराणिक कथानक पर आधारित इस नाटक में रोचकता की कमी नहीं है।

२. विधायक पराशर

लेखक के कथनानुसार यह एकांकी वशिष्ठ और विश्वामित्र के द्वन्द्व की पौराणिक कहानी पर आधारित है। आरम्भ में पराशर राक्षस-यज्ञ करते दिखाये गए हैं। राक्षस-कुल के रक्षक ऋषि पुलस्त्य जब उन्हें राक्षसों का संहार करने से रोकते हैं तो उत्तर में वे कहते हैं, "मेरी प्रतिज्ञा है कि धरती पर एक भी राक्षस न रहने दूँगा। कहाँ थे आप सब जब मेरे पिता को ......उनके सभी भाइयों को राक्षस खा गये?" पुलस्त्य उन्हें शान्त करते हैं और यह बताते हैं कि उनके पिता का वध विश्वामित्र के कपट से हुआ था। उसी समय वाशिष्ठ यह प्रकट करते हैं कि विश्वामित्र ने उनका भी

वध करने का प्रयत्न किया था, किन्तु इन सब अपराधों के लिए वे उन्हें क्षमा कर चुके हैं।

वशिष्ठ द्वारा यह रहस्योद्घाटन होने पर पराशर ऐसे स्थान पर तपस्या करने का प्रण करते हैं जहाँ विश्वामित्र भी न पहुँच सके थे। पराशर के चले जाने पर उनकी माता अदृश्यन्ती विकल हो उठती हैं। उन्हें सांत्वना देते हुए वशिष्ठ यह समझाते हैं कि पराशर अपनी तपस्या पूर्ण कर संसार से अज्ञान का अंधकार मिटाने में समर्थ होगा। पराशर की घोर तपस्या के फलस्वरूप उन्हें यह वरदान मिलता है कि उनका पुत्र जन्म से ही वेद का अधिकारी होगा। तपस्या के सफल होने पर पराशर वापस लौटते हैं। यमुना-तट पर उनकी भेंट धीवर-कन्या सत्यवती से होती है। दैवी-विधान के वशीभूत हो पराशर उससे समागम करते हैं और इस प्रकार व्यास का जन्म होता है।

पराशर के चरित्र में नाटककार ने जिन विशेषताओं का समावेश किया हैं वे तर्क की दृष्टि से भले ही उचित जान पड़े, किन्तु कहीं-कही खटकती अवश्य हैं। दया और क्षमा के भारतीय आदर्श का पराशर द्वारा इन शब्दों में खंडन कराया गया है, "दया अधर्म है......कायरता है...... अपराधी को छोड़ देना लोक में अपराध बढ़ाना है।" उनके चरित्र में लक्षित होनेवाली अहंकार की भावना भी अधिक उपयुक्त नहीं जान पड़ती। पुलत्स्य द्वारा बालक कहे जाने पर वे कहते हैं, "......पर अंधकार का नाश कौन करता है, बाल सूर्य या तरुण सूर्य।"

वशिष्ठ के चरित्र में हमें त्याग दया और क्षमा के आदर्श गुण दृष्टिगोचर होते हैं। पराशर द्वारा यह पूछे जाने पर कि विश्वामित्र के विरुद्ध उन्होंने अपने मंत्र बल का प्रयोग क्यों नहीं किया वे कहते हैं, "मेरे मंत्र का बल जगत के कल्याण के लिए था वत्स अपने प्रतिकार के लिए नहीं। विश्वामित्र के अनाचार का उत्तर मैं भी अनाचार से देता......एक व्यक्ति अपराध करे तो सारा जगत करने लगे।" इस प्रकार के कथन उनके चरित्र की महानता प्रमाणित करते हैं।

३. याज्ञवल्क्य

प्रस्तुत एकांकी-संग्रह का यह तृतीय एकांकी है। इसमें लेखक ने उपनिषद् परंपरा के प्रसिद्ध ब्रह्मवादी याज्ञवल्क्य के जीवन-चरित्र का चित्रण किया है। आरम्भ में याज्ञवल्क्य और उनके गुरु वैशम्पायन के बीच उत्पन्न मतभेद में दोनों ओर से सुन्दर तर्क प्रयुक्त किये जाते हैं। याज्ञवल्क्य यह दावा करते हैं कि वह अकेले ब्रह्महत्या निवारण का महाव्रत करने में समर्थ हैं। गुरु वैशम्पायन उनके इस अहंकार को अहितकर बतलाते हुए कहते है कि यजुर्वेद विधान में विश्वास न होने के कारण तुम मेरे शिष्य नहीं रह सकते। याज्ञवल्क्य इस प्रण के साथ कि वह शुक्ल यजुर्वेद का प्रवर्तन करेंगे आश्रम का त्याग करते हैं। उनके साथ वैशम्पायन की पुत्री मैत्रेयी भी जो याज्ञवल्क्य के गुणों पर पहले से ही मोहित है, आश्रम का त्याग करती है।

आश्रम से याज्ञवल्क्य विदेह जनक द्वारा आयोजित ब्रह्मवादियों की सभा में पहुँचते हैं जहाँ शास्त्रार्थ में उन्हें युग का सबसे बड़ा ब्रह्मवादी घोषित किया जाता है। याज्ञवल्क्य से पराजित होकर गार्गी भी उनसे प्रणय-भिक्षा मांगती हैं। अंत में अर्जुन के वंशज परंतप शतानीक संन्यास की दीक्षा ग्रहण करने के लिए याज्ञवल्क्य के पास आते हैं। याज्ञवल्क्य संन्यास की दीक्षा देने के निमित्त स्वयं गृहस्थ जीवन त्यागना आवश्यक बताते हैं। संन्यास लेने से पूर्व याज्ञवल्क्य महर्षि मंडली में मनुस्मृति के आधार पर तीन अध्याय और १०१२ श्लोक की स्वरचित संहिता प्रस्तुत करते है।

याज्ञवल्क्य के रूप में लेखक जो चरित्र हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है वह आरम्भ से ही अपने ज्ञान और तप के अहंकार में आबद्ध दिखायी देता है। इस आचरण की पुष्टि में याज्ञवल्क्य का कथन हैं "जीव-मात्र का धर्म अहंकार है। जिस मन में, बुद्धि में, अहंकार नहीं उस जीवित से अच्छा है मृतक।" उनके इस अहंकारी आचरण से दुखी होकर गुरु वैशम्पायन के इस कथन से उनका चरित्र और भी स्पष्ट हो जाता है "मेरे अन्तेवासी

इन सभी ब्राह्मण कुमारों को निस्तेज कह कर......अपने को सूर्य और इन्हें नक्षत्र बनाकर......तुमने इनका घोर अपमान किया है। तेरे जैसे उद्धत शिष्य से मेरा कोई प्रयोजन नहीं।" इस प्रकार के चरित्र-चित्रण को दृष्टि में रखते हुए यह विचारणीय हो जाता है कि शुक्ल यजुर्वेद का प्रवर्तन करने वाले याज्ञवल्क्य के चरित्र की यह विशेषताएँ कहाँ तक उपयुक्त कही जा सकती है।

४. कौटिल्य

पाटलिपुत्र के प्रथम मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त के गुरु चाणक्य की असाधारण प्रतिभा इतिहास प्रसिद्ध है। चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्य में समूचे भारतवर्ष को एकता के सूत्र में बाँधने वाले आचार्य विष्णुगुप्त के जीवन पर ही प्रस्तुत एकांकी आधारित है।

आरम्भ में मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त और उनकी यवन रानी हेम माला विषकन्या के संसर्ग से सेनापति पर्वतक की मृत्यु से दुखी दिखायी देते हैं। नंदराज के ब्राह्मण-मंत्री राक्षस के षडयंत्र से ही विषकन्या चन्द्रगुप्त को समाप्त करने के उद्देश्य से भेजी जाती है किन्तु आचार्य विष्णुगुप्त उसे पर्वतक के पास भेजते हैं जिससे उसकी मृत्यु हो जाती है। इस अपराध में राक्षस मंत्री भी बन्दी बना लिया जाता है। आचार्य विष्णुगुप्त राक्षस मंत्री की प्रतिभा और योग्यता की प्रशंसा करते हैं और यह रहस्योद्घाटन करते हैं कि उनके जीवन का उद्देश्य तभी पूर्ण होगा जब वह उसे चन्द्रगुप्त का मंत्री बना देगें।

आचार्य विष्णुगुप्त अपनी बुद्धि और राजनैतिक सूझ-बूझ से राक्षस को चन्द्रगुप्त का मंत्री बनाने में सफल होते हैं। विषकन्या बसंत सेना आचार्य से अपनी शरण में रखने की याचना करती है। अंत में आचार्य विष्णुगुप्त व्यवहार शास्त्र और अर्थशास्त्र की रचना करने का प्रण करते हैं और इस प्रकार एकांकी समाप्त होता है।

नाटककार ने आचार्य विष्णुगुप्त का चरित्र ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर प्रस्तुत किया है। इस देश में यवन सेना का आक्रमण होने पर

अंत में आचार्य शंकर समूचे देश को शृंगेरी, गोवर्धन, शारदा और ज्योति नाम से चार भागों में विभाजित कर चार मठों की स्थापना करते हैं।

इस एकांकी में नाटककार ने देश के एक अलौकिक व्यक्तित्व के जीवन की सभी प्रमुख घटनाओं को अत्यन्त कुशलतापूर्वक सँजोया है। आचर्य शंकर ने इस भूमि में सांस्कृतिक अखंडता की जिस ज्योति को प्रज्वलित किया उसके लिए यह देश सदैव उनका यश-गान गाता रहेगा। प्रस्तुत एकांकी में एक स्थल पर देश में फैले हुए परस्पर विरोधी अनेक धर्मों के प्रचार से दुखी होकर आचार्य शंकर कहते हैं, "सिन्धु की भूमि की आज क्या दशा है। बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त, कापालिक और तांत्रिक कहाँ है आज वहाँ। पच्छिम की मरु-भूमि का यवन धर्म सबको निगलता चला आ रहा है। हमें अब अपना घर सँभालना है नहीं तो हमारी भी वही दशा होगी।"

अन्यत्र मण्डन मिश्र का यह कथन आचार्य शंकर के व्यक्तित्व की महानता को स्पष्ट करता है, "भट्ट कुमारिल ने सौगतों और वाममार्गियों को बुद्धि से हराया था—तर्क और शास्त्रार्थ से। आचार्य शंकर ने उन्हें शील और विनय से भी वश में किया है। शंकर और विष्णु के स्तोत्रों के साथ बुद्ध के स्तोत्र भी जब वे गाने लगते हैं कोई समझ नहीं पाता कि विष्णु के अन्य अवतारों और बुद्ध में अंतर कहाँ है।"

हम यह कह सकते हैं कि प्रस्तुत एकांकी आचार्य शंकर की जीवनी और उनके महान् व्यक्तित्व को अत्यन्त स्वाभाविकता के साथ स्पष्ट करने में समर्थ है।

लेखक की विचारधारा

मानव जीवन की आदि प्रेरणा जिन सहस्र भावधाराओं से होकर प्रवाहित हुई, कला, साहित्य और दर्शन उनमें से प्रमुख हैं। आज भी उसकी चेतना का इतिहास इनमें सन्निहित है। जीवन की अभिव्यक्ति को कला और साहित्य से विलग नहीं किया जा सकता और इसी कारण 'कला को जीवन की अभिव्यक्ति' कहा गया है। साहित्य चाहे जिस रूप में हो वह जीवन का यदि दर्शन न करा सका तो वास्तव में वह जीवनोपयोगी साहित्य नहीं हो सकता। जब जब कला, साहित्य और दर्शन जीवन से विमुख हो कल्पना लोक का ही चित्रण करने लगे तब तब साहित्यिक तथा दार्शनिक क्रांतियाँ हुईं।

(उन्नीसवीं शताब्दी में जीवन की नयी आवश्यकताओं और समस्याओं के फलस्वरूप जन जीवन में उथल पुथल पैदा हुई। वह वास्तव में उस समय के शृङ्खलाबद्ध जीवन से मुक्त होने का प्रयास था। योरप में शेक्सपियर तथा परवर्ती नाटककारों ने अपनी रचनाओं में सर्वथा नवीन तत्वों का समावेश प्रस्तुत किया। आर्थिक क्रांति ने जनता में नई चेतना जाग्रत की। इसी समय इब्सन, गाल्सवर्दी तथा बरनर्डशा आदि नाटककारों का जन्म हुआ जिन्होंने जन-साधारण के जीवन से प्रेरणा ले उनकी आवश्यकताओं को पहचाना और उनके अनुरूप नाटक के आदर्शों में परिवर्तन किया। राजा महाराजाओं की विलासप्रियता के आदर्श की अपेक्षा जन-जीवन की समस्याओं को नाटकों का आदर्श बनाया गया। साथ ही समाज की नारी-पुरुष की समस्या, नारी शिक्षा की समस्या तथा इसी प्रकार की अन्य विभिन्न समस्याओं के चित्र उपस्थित करने में उनकी कला प्रवाहित हुई।)

लेखक के नाटकों की नवीन धारा

भारत-योरोपीय संपर्क से हमारे देश में भी इस विचाधारा का विकास हुआ और आधुनिक कलाकारों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। जिस समय चेतना की यह लहर भारत पहुँची उस समय यहाँ का जीवन संक्रमण काल से गुजर रहा था। एक ओर भारतीय संस्कृति तथा इतिहास का प्रेम नाटककारों को अपनी ओर आकृष्ट किये था तो दूसरी ओर कुछ साहित्यकार जीवन की वास्तविक आवश्यकताओं को चित्रित कर साहित्यक क्रांति करना चाहते थे।

पहली कोटि में प्रसाद तथा उनके समकालीन नाटककारों ने अपनी रचनाएँ उपस्थित की तथा दूसरी धारा का श्री गणेश करने वाले श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र हैं। मिश्र जी ने आधुनिक भारत की 'सेक्स समस्या', सह शिक्षा तथा उन मानवीय दुर्बलताओं का सीधा सच्चा प्रकाशन समाज के सामने करना प्रारंभ किया जिनको वह अपने हृदय में ही सँजोकर अपने को महान कहता रहा। उसने अपने भीतर आदर्श जीवन की अवतारणा तो करनी चाही पर अपनी दुर्बलताओं से मुँह मोड़कर और इसी कारण वह सफल न हो सका। मनुष्य की आंतरिक दुर्बलताओं ने जीवन में जो बाधाएँ उपस्थित की उनके परिणाम-स्वरूप ही जीवन इतना जटिल हो गया। लेखक ने अपने इस दृष्टिकोण के सम्बंध में लिखा है, "क्यों ? इसलिये कि हमने अपने जीवन के साथ विद्रोह किया है। जिन्दगी क्या है ? क्यों है ? कैसे है ? जीवन के रहस्य क्या है ? इनके समझने के लिए हमने जीवन के उपकरणों का विश्लेषण नहीं किया। हम अपने मांस और रक्त की चिंता में—उस सीमा के आगे नहीं बढ़ सके। बातें तो हमने आदर्शवाद की—लेकिन अपने भीतर नहीं देखा—वहाँ कितना प्रकाश और अंधकार था। हमारे भीतर जो राक्षस है उसको भोजन तो हमने खूब दिया—लेकिन वह जो देव था......वह भूखों मर गया।" इसीलिये इस ढोंगी जीवन का जिसमें हमने वास्तविकता और अपनी दुर्बलताओं को आदर्श के मुलम्मे में छिपा रखा है, यथार्थ चित्रण करना ही लेखक का इष्ट है। अन्यत्र वे

कहते हैं, "जरूरत है...जिन चीजों को हम भलाई, बुराई, सुख, दुख, पाप, पुण्य या स्वर्ग, नरक कहते हैं उसमें सामंजस्य पैदा करने की—उनका भेद मिटाने की। अपने बनावटी पर्दों को [जिनका काम है हमारे 'निन्दनीय' को छिपाए रखना] उठा देने की अपने हृदय और अपनी आत्मा को आकाश की तरह विस्तीर्ण और स्पष्ट। उसमें हमारे भीतर जो कुछ है नक्षत्रों की तरह सब किसी को देख पड़े। इसी में हमारा कल्याण है। "Privacy is sin" टाल्सटाय ने शायद इसी मतलब से कहा था।"

इसी विचार को वे 'राक्षस के मन्दिर' में मुनीश्वर के मुख से इन शब्दों में कहलाते हैं "सपना! कोई दिन था जब दुनिया वैसी ही थी। न ईश्वर का अत्याचार होता था न धर्म का। न माँ का न बाप न भाई का, न स्त्री का, न लड़के का। वही दुनिया लौट आती। देखिये मैं बहुत दूर अब आ गया हूँ। लौटना मुश्किल है। मैं क्रांतिकारी हूँ। लेकिन अंग्रेजी सरकार के खिलाफ़ नहीं—हर एक सरकार के—राज्य करने के, कानून बनाने के, शिक्षा देने के, धर्म और सदाचार बनाने के सभी तरीके मनुष्य को, उसके भीतर की शक्तियों को दुर्बल बनाते चले जा रहे हैं। हमारी ज़िंदगी के खतरे तो मर रहे हैं......लेकिन यह ज़िन्दगी! आह कीड़ों से भी बदतर। देवता को लात मार कर पिशाच की पूजा।

लेखक का सामाजिक आदर्श

उपर्युक्त कथन से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि मिश्र जी परंपरा से चलते आये सामाजिक बन्धनों और तथाकथित सभ्यता की प्रगति के उतने ही विरोधी हैं जितने वे स्पष्टता तथा पवित्रता के पक्षपाती। उनका विचार कि है आज का समाज केवल आडंबर तथा दिखावे का एक ढकोसला मात्र रह गया है जिसमें न तो कुछ सार है और न सत्यता। जिसे हम सामाजिक नियम, सभ्यता के नाम से जीवन की प्रणाली तथा मानवता की प्रगति कहते हैं वह अन्य कुछ नहीं केवल मात्र अपनी कुत्सित भावनाओं का सुनहला आवरण है। इसी से मुनीश्वर आज के मानव का इतना स्पष्ट विश्लेषण करता है, "हाँ-हाँ अब आपने समझा। आप जिसे आदमी

कहते हैं—वह या तो राक्षस हैं या देवता। आदमी ऐसी चीज न है, न थी, न होगी।"

आधुनिक समाज के प्रति उनकी यह धारणा है कि उसमें मनुष्यता और मानवता नाम की कोई वस्तु दिखायी नहीं देती। वास्तव में बात भी ऐसी ही है। आज सभ्यता तथा मानवतावाद के नाम पर संघर्ष तथा अपहरण की पद्धति चल पड़ी है। सबल राष्ट्र दूसरे की स्वतंत्रता आज भी मानवता के नाम पर हरण करने को तैयार है। हम एक दूसरे के प्रति इतने संशयालु हो गये हैं कि सामाजिक क्षेत्र में भला कार्य करने वाला भी अकारण बुराई का शिकार होता है। कोई कितने ही अच्छे विचार से सामाजिक उत्थान की बात कहे हम उसमें कोई न कोई उसका व्यक्तिगत स्वार्थ ढूँढ लेते हैं। आज के इस स्वार्थी समाज की आलोचना 'मुक्ति का रहस्य' नामक नाटक के एक पात्र शर्मा जी से वह इन शब्दों में कराते हैं, "मुझे तो ऐसा मालूम हो रहा है। हमें ज़िन्दगी का मज़ा नहीं मिलता और न तो हम कभी खुली हवा में साँस ले पाते हैं। प्रेम करने में भी पाप है, दान देने में भी पाप है। दुनिया के नब्बे फीसदी जो काम नहीं करते वह करना—लोग सन्देह करते हैं कि यह प्रेम क्यों करता है, दया क्यों करता है, होगी कोई न कोई छिपी बात।" इसी से तो आज का बुद्धिजीवी-मानव ऐसे आडंबर पूर्ण संसार का तिरस्कार कर मनमानी करना चाहता है। आज उसकी आस्था सामाजिक नियमों से हटकर व्यक्तिगत स्वार्थ की ओर केन्द्रित हो गई है। इसीलिये मुनीश्वर समाज को अपनी बपौती समझने वालों के सामने ताल ठोंककर कहता है कि उसे यह समाज पसंद नहीं। ऐसे समाज की आवश्यकता है जहाँ मनुष्य की स्वतंत्र ज़िन्दगी हो, "जो हो। मैं जो दिल से चाहता हूँ मनुष्य की वही प्रारम्भिक जिन्दगी फिर लौट आती। न कोई बन्धन न कोई चिंता। न धर्म न सदाचार, न कानून, न क्रान्ति। भेद भाव का नाम नहीं—सब कुछ एक रस...स्वरूप एक में, जहाँ न पितृ धर्म है—न मातृ धर्म—न पत्नी धर्म—न पति धर्म। जहाँ न कर्त्तव्य है, न आदर्श है।"

उक्त सामाजिक प्रतिक्रिया के मूल में हमारी सामाजिक संकीर्णता ही है। मिश्र जी उस आडंबर पूर्ण एकांगी समाज के विरोधी हैं, जहाँ मनुष्यता आज के मानव की छाया से दूर भागना चाहती है। यह दुर्दशा कुछ सरमायादारों तथा समाज के ठेकेदारों के कारण है जो समाज का नेतृत्व कर उसे गढढे में गिराते हैं। उमाशंकर कहता है, "बिल्कुल नहीं समाज में बुराई इसीलिए बढ़ रही है कि दस पाँच गुमराह जो सोचते हैं कि उन्हीं का कहना और सोचना ठीक हो सकता है...सब जगह अपना ही सिक्का देखना चाहते हैं। औरों को न सोचने देते हैं और न कहने देते हैं इसका नतीजा ? ज्यों ज्यों लोगों का हक छीना जाता है...थोड़े आदमियों पर उसका बोझ पड़ जाता है। वे सब अपना अलग समाज बना लेते हैं। दुनिया की सभी अच्छी चीजें, धन, दौलत, पद, इज्जत सब प्रकार की सुविधाएँ, सुन्दर मकान, सुन्दर सड़कें एक शब्द में जो कुछ उपयोगी और शानदार सब उनके लिए और बचे हुए......मनुष्य जैसा आपने कहा था —पशु, गंवार...असभ्य नालायक...।"

इस घृणास्पद समाज से हम तभी मुक्ति पा सकते हैं जब पवित्रता और ईमानदारी का ठेका थोड़े से व्यक्तियों से हट कर सामाजिक संपत्ति बने। मिश्र जी की आदर्श समाज की कल्पना उमाशंकर के मुख से इन शब्दों में प्रकट होती है, "घर की संपत्ति मै अपने लिए छोड़ रहा हूँ। अपनी मुक्ति के लिये। साम्यवाद की लहर आ रही है देश की संपत्ति राष्ट्र की संपत्ति होगी...राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति की—धनी गरीब—यह बात मिटने वाली है, अब तो वह युग आ रहा है जिसमें मनुष्य के समान अधिकार और समान कर्त्तव्य होंगे...स्वामी और सेवक, पूँजीपति और मजदूर इन बातों में पड़कर दुनिया बहुत बिगड़ चुकी है। उसकी रीढ़ की हड्डी टूट चुकी है वह सीधी खड़ी नहीं हो सकती। समाज परिवर्तन नहीं क्रान्ति चाहता है। पुरानी इमारत की मरम्मत बहुत हुई—इतनी हुई कि अब उसमें मरम्मत की जगह नहीं है। उसकी नींव हिल रही है—एक धक्का और साफ़। जो समाज की सच्ची भलाई चाहने वाले हैं उनका काम है

कि इस कमजोर नींव पर एक भी नयी ईंट न रखे उस पर और बोझ न लादे या तो उसे छोड़कर खुले आसमान के नीचे आ जाँय...मनुष्य जाति की वह आदिम अवस्था जिसमें न धर्म न अधर्म, न पाप न पुण्य न शिक्षा न मूर्खता प्रकृति के जड़ नियमों, जड़ मनुष्य का जीवन न घर, न परिवार, न समाज, न देश। कहीं कुछ नहीं। सब एक रस और नहीं तो फिर इस इमारत को गिराकर दूसरी इमारत की नींव डालें। पुरानी इमारत की एक ईंट भी इस नयी इमारत में न लगे—नहीं तो वह बैठेगी नहीं।.........मैं शायद घरवालों से नाता तोड़कर या पुश्तैनी जायदाद को लात मारकर मैंने उस युग का आज सच्चे दिल से स्वागत किया है जिसमें मनुष्य केवल मनुष्य होगा...इस पुरानी इमारत की नींव से मैंने एक ईंट निकाल ली है। मैं गिराना चाहता हूँ बनाने वाले दूसरे होंगे।"

यह कहना गलत न होगा कि लेखक की यह सामाजिक विचारधारा आलोचनात्मक अधिक है। वर्तमान समाज की बुराइयों को दूर कर उसका किस प्रकार सुधार किया जाय इस सम्बंध में लेखक ने कोई निश्चित विचार नहीं व्यक्त किये हैं। समाज है तो उसमें बुराई तथा भलाई दोनों ही रहेगी। दोनों में से किसी का भी समूल उत्पाटन संभव नहीं हो सकता। हाँ, उसमें सुधार मात्र किया जा सकता है। यह विचारणीय है कि जिस अनियंत्रित समाज की कल्पना लेखक ने की है क्या वास्तव में ऐसा आज के युग में संभव हो सकता है? आज का मानव जितनी प्रगति कर चुका है वह उसे भुला नहीं सकता और अवसर पाते ही फिर उसका उपयोग कर वह अपने प्रभुत्व की प्रतिष्ठापना करना चाहेगा। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि जो सामाजिक बन्धन आज हमारे लिए अपेक्षित नहीं रह गये हैं और आज जिनकी हमारे सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में आवश्यकता नहीं रह गई है उन सबका मूलोच्छेदन कर ऐसी व्यवस्था करें जिससे हमारा जीवन सुखी बन सके।

लेखक का राजनैतिक दृष्टिकोण

आदर्श समाज की प्रतिष्ठापना कर सकने के बाद ही हम उसमें

आदर्श मानव और आदर्श राष्ट्र की कल्पना कर सकते हैं। लेखक अपने राजनीतिक दृष्टिकोण को इन शब्दों में व्यक्त करता है, "स्वतंत्रा की ओर हम तेजी से बढ़ रहे हैं...हमारा देश उस भयंकर भँवर को पार कर रहा है...जिसके बाद ही स्वतंत्र राष्ट्र की जन्मभूमि है। आज दिन जो शासन और राजनीति की मशीन है उसे बदलकर हम ऐसी स्थिति लाना चाहते हैं, जिसके मूल में आत्मनिर्भरता अथवा स्वतंत्रता का सारा रहस्य है। लेकिन इस स्वतंत्रता का आधार क्या होगा? केवल शासन की बागडोर? देश के धन और जन पर अबाध अधिकार? अथवा राष्ट्र के सम्पूर्ण जीवन का संचालन। जब तक यह अंतिम बात न होगी—स्वतंत्रा की सारी विभूति का सुख और आनंद हम न उठा सकेंगे! लेकिन यह बात होगी कैसे? जिन्दगी की बात जिन्दगी से पूछी जानी चाहिए। योरप अमेरिका में विचारकों की आवाज प्रजातंत्र के विरुद्ध उठ रही है।'

इतना ही नहीं अपने एक नाटक संन्यासी में उन्होंने एशियाई संघ की स्थापना करवायी है। इससे मिश्र जी का राजनीतिक दृष्टिकोण बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। आपका विचार है कि साहित्य में राजनीति का समावेश होना स्वाभाविक ही है। इस सम्बंध में आपका कथन है, "इस युग में साहित्य राजनीति से अलग नहीं किया जा जकता। राजनीति को जितनी जगह हमारे जीवन में मिली है उतनी जगह उसे साहित्य में भी मिलेगी। कलाकार को अपने युग की जिन्दगी बितानी चाहिए।" रोम्याँ-रोलाँ ने बहुत समझ कर कहा है, "साहित्यकार भी नागरिक है...विदेशी शासन की बुराइयों का फल उसे भी भोगना पड़ रहा है।" संन्यासी में वह 'एशियाई संघ' की स्थापना की आवश्यकता इन शब्दों में बतलाते हैं, "इस नाटक में मैंने एशियाई संघ की कल्पना की है, उसे तुम दूर की राजनीति कह सकते हो लेकिन मैं तो इसे नजदीक की राजनीति समझता हूँ। जातियों अथवा राष्ट्रों का युद्ध अब प्रायः समाप्त सा हो रहा है—अब रंगों का युद्ध छिड़ेगा। गोरी जातियाँ एक होकर अपने स्वार्थ के लिए हम रंगीनों को दबाना चाहेगी। विचारों में तो यह युद्ध प्रारम्भ हो चुका है। योरप

अमेरिका के अनेक लेखक गोरी जातियों को सम्मिलित होकर रङ्गीन जातियों पर अधिकार जमाने का उपदेश दे रहे हैं। स्टेफन, किंग हाल, लाथास्तोदर पुटनभवील, हिंडमनब्लाएड और प्रसिद्ध कैथेराइन मेयो सरीखे लेखक भिन्न-भिन्न रास्तों से यह प्रोपेगएडा कर रहे......तो हमें एशियाई संघ की स्थापना करनी पड़ेगी। अपनी रक्षा करने के लिए एक नयी सभ्यता के निर्माण के के लिए, जिसका आधार संस्कार तथा सेवा होगा—रंगों की विषमता और घृणा नहीं।"

इस आदर्श का पालन करने वाला 'संयासी' का प्रमुख पात्र विश्व-कान्त है जो अफ़गान साथियों को चेतना और संयम प्रदान कर कहता हैं, "आप इतने जल्द गर्म हो जाते हैं। दूसरों ने जो बुराई की है जिसके लिए आप उन्हें जालिम कहते हैं वही बुराई आपको नहीं करनी चाहिए।' एशियाई संघ 'गोरों से बदला नहीं लेगा अपना बचाव करेगा। अपनी सभ्यता बनायेगा, जो इस गोरी सभ्यता की, खुदगर्जी और बेइमानी पर नहीं दुनिया की भलाई पर टिकी रहेगी। गोरी जातियों ने बाहरी ठाठ बाट पैदा की है लेकिन तह अब भी जँगली है। भलाई उन्हें नहीं आती। उनकी साइंस और राजनीति बुराई पैदा करती है। हमारा संघ इसके विरुद्ध खड़ा होगा; उन्हें आदमी बनायेगा। योरप को जो कुछ करना था कर चुका; अब एशिया की बारी है। योरप ने इन्सानियत की छाती में जितने घाव किये हैं उन सबके लिए एशिया को मरहम बनाना पड़ेगा। एशिया मजहबों की माँ—सभ्यता की माँ है। दुनियां को इसी ने शाइस्ता बनाया था। अगर यह अपने बीते दिन को याद करे तो एक बार फिर दुनिया को शाइस्ता बना सकती है।" मिश्र जी के इन राजनैतिक विचारों को न तो हम प्रतिक्रियावादो ही कह सकते हैं और न संकीर्णता का नया पग। वास्तव में यह वह सत्य है जिसे भारत क्या समस्त एशिया के नागरिकों को स्वीकार करना पड़ेगा। बिना अपने को सबल बनाये केवल दूसरे की आशा, उदारता और सहिष्णुता का मुखापेक्षी बनकर कोई भी राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता।

लेखक की सेक्स और नारी भावना

राष्ट्रीय चेतना और सामाजिक विश्लेषण के उपरांत सबसे प्रमुख समस्या जिसे लेकर मिश्र जी ने अपने समस्त समस्या-प्रधान नाटकों का सृजन किया है वह है हमारी सेक्स समस्या। सेक्स के अंतर्गत उन्होंने आधुनिक भारतीय प्रगतिशील समाज का तो चित्रण किया ही है साथ ही शिक्षा प्रणाली और सहशिक्षा को हमारी सेक्स समस्या का दोषी ठहराया है। उनका अनुमान है कि पाश्चात्य शिक्षा से अनुप्राणित आज का भारतीय युवक अपनी बाहरी टीम टाम में तो आधुनिक बन जाता है पर अपने जन्मजात संस्कारों की बेड़ी में वह उतनी ही मजबूती से जकड़ा रहता है। उसका मस्तिष्क विदेशी दर्शन और साहित्य से आलोड़ित तो हो उठता है पर उसमें उतनी विचार परिपक्वता नहीं आ पाती जिसके सहारे वह वस्तुस्थिति का ठीक विश्लेषण कर उदारता का व्यवहार कर सके।

इस दोष का एक अन्य कारण भी है और वह है हमारी भावुकता। हमारा सामाजिक आदर्श और हमारे संस्कार भारतीय दार्शनिकता से इतने बोझिल हो गये हैं कि हम अपनी वास्तविकता और अपनी दुर्बलताओं को छिपाने के लिए भी कोई न कोई दार्शनिक मतवाद खड़ा कर अपने चरित्र का बचाव ढूँढ लेते हैं। टट्टी की आड़ से शिकार खेलने की इस विधि ने हमारे जीवन में और भी जटिलताएँ उत्पन्न कर दी हैं। नारी पुरुष की और पुरुष नारी की सदा से दुर्बलता रही है। उसे दुर्बलता कहना भी वास्तव में ठीक नहीं जान पड़ता, क्योंकि वह एक प्राकृतिक आवश्यकता की पूर्ति मात्र है। हमारे संस्कार उसे नवीन रूपों से आच्छादित किये हुए हैं जिसका एक रूप प्रेम भी है। नारी समस्या और प्रेम की व्याख्या मिश्र जी इन शब्दों में करते है; "स्त्री और पुरुष विश्व के दो पहलू हैं—वे एक होते हैं—प्रकृति के निश्चित नियमों के अनुसार, प्रकृति की निश्चित प्रणाली की रक्षा और प्रचार के लिए। उसे हम सन्तानोत्पत्ति, नवजनन या जो मन में आये कह ले—सत्य यही है। स्त्री और पुरुष के सम्मेलन में 'नूतन सृष्टि' प्रकृति की यही

शक्ति या समस्या प्रधान काम करती है। इस सम्बंध का सबसे बड़ा आकर्षण तब उत्पन्न होता है जब स्त्री और पुरुष दोनों नवजनन की शक्तियों से भरपूर होते हैं—उस समय वे दोनों साथ साथ या समीप रहना चाहते हैं—प्रकृति के खिलौने प्रकृति की सर्वव्यापिनी इच्छा-शक्ति में अपने को भूल जाते है—इस भूल जाने की प्रक्रिया को संसार में सुंदर नाम प्रेम या प्रणय दे दिया गया है...स्त्री और पुरुष के आकर्षण और सम्मिलन में जहाँ तक प्रकृति का चिरंतन सत्य है वहाँ तक तो बुद्धि-वादी कोई एतराज नहीं करता लेकिन जहाँ तक ऊपरी आडंबर और ढकोसले हैं—प्रियतम और प्रेयसी की रंगीन दुनिया और रंगीन स्वर्ग के सपने हैं—थोड़ी देर के वियोग या मान में मरने जीने की जो परिपाटी है—बुद्धिवादी इन बातों पर हँस पड़ता है। अब उसके हँसने का यह मतलब लगाया जाता है कि वह सदाचार का कायल नहीं।"

इसी भावना को लेखक ने अपने नाटकों के नारी पात्रों से मुखरित कराया है। उसकी नारी आधुनिक युग की शिक्षा प्राप्त नारी है जिसमें भावुकता के साथ गंभीरता तथा सामाजिक चेतना का भाव भी उद्दीप्त हो चुका है। वह अपने अधिकारों से अवगत होने के साथ ही विवेकशील भी है। 'संन्यासी' की मालती कालेज की एक भावुक युवती है। समय की गति जीवन के उत्थान पतन, उसके भावुक दृष्टिकोण को समाप्त कर उसे बुद्धिवादी बना देते है। नारी पुरुष के सम्बंधों को अब वह बुद्धि और तर्क पर तौलती है। प्रेम के सम्बंध में वह कहती है, "ऐसा नहीं है। मैं आज कई वर्षों पर होश में आई हूँ। तुम्हीं बतलाओ हम लोग प्रेम करते थे किस लिए? कभी भी हम लोगों ने सोचा था? सुन्दर भोजन और वस्त्र पर जिस तरह गँवारों की तबियत चल जाती है उसी तरह हम दोनों की तबियत...हम लोगों पर नहीं चल पड़ती थी? हम लोग उन लेखकों की पुस्तकें पढ़ते थे, जिन्होंने रक्त मांस की बुराई की—वासना या मोह को सुन्दर बनाकर हम लोगों का स्वर्ग बना दिया था। मैं उन लेखकों और उन चरित्रों से घृणा करती हूँ। कहीं कोई प्रेमी हाथ जोड़कर अपनी प्रेमिका

से भीख मांग रहा है तो कहीं प्रेमिका घुटने टेककर प्रेमी के सामने आँचल की फाँसी लगा रही है—यह सब फिजूल है—जिन्दगी को बुराई की राह पर ले जाना है—पाप को सुन्दर बनाना है। जिस तरह भोजन या पानी बिना काम नहीं चल सकता—उसी तरह स्त्री या पुरुष बिना काम नहीं चल सकता। यह प्रकृति की बात है। इसे इसी रूप में छोड़ देना चाहिए। जब जरूरत पड़े तब—लेकिन रात दिन उसी चिंता में पड़े रहना—और इसे प्रेम का नाम देना—शायद यही पाप है और कुछ पाप है या नहीं लेकिन यह तो जरूर पाप है। यह एक मर्ज है—किसी को ज्यादा खाने का मर्ज होता है तो किसी को ज्यादा पानी पीने का और किसी को जवानी की इस बुराई का जिसे लोग प्रेम कहते हैं।" एक अन्य स्थल पर वह कहती है, "तुमने मुझे प्रेम किया था और मैंने भी तुम्हें प्रेम किया था...... लेकिन हम लोगों के प्रेम का आधार वासना, जवानी की उपभोग की इच्छा...ईश्वर ने हम दोनों को बचा लिया।"

वासना का दुर्दान्त आवेग स्त्री तथा पुरुष दोनों को मदान्ध कर देता है, यह सही है, किन्तु स्त्री और पुरष की परिधि के भीतर वासना ही है, अन्य कुछ नहीं, यह बात समझ में नहीं आती। नारी के वात्सल्य और त्याग के पीछे वासना ही नहीं कर्त्तव्य भी छिपा रहता है। इसके अतिरिक्त मिश्रजी की बुद्धिवादी नारी पहले तो प्रेम करती है और उसमें असफल होने पर ही वह बुद्धिवादी हो जाती है। उसका इस प्रकार विचार-परिवर्तन श्मशान वैराग्य सा जान पड़ता है जो वास्तव में असफलता जन्य है। मिश्र जी की नारी समस्या एक प्रतिक्रियावादी समस्या है जिसका निदान बुद्धिवाद के सहारे खोजने का प्रयास तो उन्होंने किया पर उसका पूर्ण समाधान वह उपस्थित नहीं कर सके। इसी कारण कहीं-कहीं नारी का चरित्र विकासोन्मुख न होकर प्रतिक्रियावादी प्रतीत होता है।

नाटककार की बुद्धिवादी नारी एक ओर जहाँ जीवन की गंभीरता से व्याख्या करती हुई वासना और प्रेम जैसे तत्वों का विश्लेषण करती है वहाँ वह नितांत असंयमी और मुखर भी दिखायी देती है। वह शिक्षित

होते हुए भी सामाजिक नियमों—लज्जा और त्याग के स्थान पर पूर्ण स्वतंत्र होने का प्रयत्न करती दिखायी देती है, उसकी मुखरता सामाजिक मर्यादा का भी उल्लंघन करने से नहीं हिचकती, और विशेष रूप से 'अशोक' जैसे ऐतिहासिक नाटकों में उसकी यह विचारधारा खटकती है। अशोक की पत्नी देवी, अशोक का हाथ पकड़कर कहती है, "चलो सोने चलें। महीनों बीत गये, रात को कभी तुमसे भेंट नहीं हुई। आज अकेली न सोऊँगी···"। इतना ही नहीं उसका यह कथन नारी मर्यादा के प्रतिकूल जान पड़ता है, "नहीं हो सकता—मेरे साथ सोना नहीं हो सकता। क्यों यह इच्छा होती है—जब पूरी ही नहीं होने पाती।"

'राजयोग' की चम्पा उच्च शिक्षा प्राप्त होते हुए भी विवाहित नारियों की जिम्मेदारियों से अवगत नहीं। वह पुरुष जाति की भर्त्सना इन शब्दों में करती है, "भ्रम और मिथ्या की भाषा छोड़कर यदि यों कहे कि मेरा काम है कि रात को आपकी सेज पर और दिन को कठपुतली की तरह आपके इशारे पर···आपकी मर्ज़ी पर अपने को छोड़ देना······अपने शरीर को······अपने हृदय को और अपनी आत्मा को।" इससे भी आगे बढ़कर मनोरमा पुरुष जाति का सत्कार इन शब्दों में करती है, "क्षमा कीजियेगा पुरुष आँख के लोलुप होते हैं, विशेषतः स्त्रियों के सम्बंध में, मृत्यु-शय्या पर सुन्दर स्त्री इनके लिए सबसे बड़े लोभ की चीज़ हो जाती है।" अन्यत्र वह मनोजशंकर के प्रेम का तिरस्कार कर कहती है, "···हम लोगों को अपने से महान होना है मनोज। तुम्हारे साहब भी मुझसे प्रेम करने लगे हैं। दशाश्वमेध घाट पर भिक्षुओं में एक-एक टुकड़े के लिए द्वंद्व चल पड़ता है—वे सभी भूखे रहते हैं······ज्ञान के लिए वहाँ लेशमात्र भी जगह नहीं है। उन्हीं भिक्षुओं की तरह हो गई है तुम्हारी पुरुष जाति। पर वही आगे चलकर अपने हृदय के प्रेम को दबा नहीं पाती। वह विधवा है पर प्रेम करना बुरा नहीं समझती। प्रेमी के साथ विवाह का बन्धन वह आवश्यक नहीं मानती। वह कहती है, "इस तरह क्यों देख रहे हो तुम्हीं कहो मैं विधवा हूँ······इस ज्वालामुखी को यदि मैं कुछ समय के लिए छिपा भी

लूँ ......तब भी किसकी बनूँ तुम्हारी या डिप्टी साहब की। जहाँ तक मेरी बात रही......मैं तो उन्हें जी भर घृणा करना चाहती हूँ और तुम्हें जी भर प्रेम......अगर तुम मेरे प्रेम का अर्थ समझ सको......मुझे उसका अवसर दो। मैं तुम्हें अपना दूल्हा तो नहीं बना सकती लेकिन प्रेमी बना लूँगी।"

एक ओर तो नारी सामाजिक बन्धनों का मूलोच्छेदन करती हुई दिखायी देती है, पुरुष निर्मित सामाजिक नियमों का खंडन ही उसका बुद्धिवादी दृष्टिकोण है और दूसरी ओर वह मनोरमा के शब्दों में समस्त समस्याओं का निदान बुद्धिवाद से खोजना चाहती है, "......संसार की समस्याएँ जिनके लिए आज कल इतना शोर मचा है तराजू के पलड़े पर नहीं सुलझायी जा सकती......वे पैदा हुईं बुद्धि से और उनका उत्तर भी बुद्धि से ही मिलेगा और अगर प्रकृति के नाम पर चिरंतन पशुवृति की ओर बढ़े......तब तो न कोई चिन्ता है न खेद......लेकिन तब कोई समस्या भी नहीं है और समाधान भी नहीं।" वही कहती है, "अगर तुम सचमुच मेरे शरीर पर नहीं रीझ गये हो...तुमने मेरा हृदय मेरी अंतरात्मा को समझ लिया है तो हाथ बढ़ावो या लो पकड़ लो। तुम बाँसुरी बजाओगे। मैं चित्र बनाऊँगी! मैं विधवा हूँ और तुम......तुमको भी विधुर होना होगा। और इस प्रकार हमारा सम्मिलन आज एक जीवन का नहीं अनेक जीवन का होगा।"

मिश्र जी की बुद्धिवादी नारी इन विपरीत कूलों से टकराती रहती है। इस उलझन का कोई निश्चित और सफल निदान प्रस्तुत नहीं किया गया है। उनकी नारी आधुनिक शिक्षा तो प्राप्त करती है पर उसका उपयोग करने में वह नितान्त अनुपयुक्त है। चम्पा कहती है, "ग्रेजुएट होने से कोई स्वर्ग की सीढ़ी नहीं मिल जाती। वही हृदय रहता है और उसके विकार भी वही...कभी-कभी तो बढ़ जाते हैं। बुराई कौशल हो उठती है।" नारी की वास्तव में यही विवशता आज हमारे जीवन की 'सेक्स समस्या' का विराट रूप बन कर सामने आयी है। आधुनिक नारी लिपिस्टिक, पाउडर तथा वेशभूषा के प्रयोग मात्र से ही अपने को बुद्धिवादी और प्रगतिशील कहने लगी है पर वास्तविकता तो यह है कि आज भी

उसका मानसिक जगत उतना ही भावुक और उतना ही निर्बल है जितना कि आज से पिछले कई सौ वर्ष पूर्व था। वह एक ओर आगे बढ़ना चाहती है तो दूसरी ओर प्रतिगामी भी रहना चाहती है। एक ओर यदि पुरुष की लोलुपता से वह घृणा करती है तो दूसरी ओर प्रथम दर्शन में स्वयं ही अनुरक्त भी होती है।

'सिन्दूर की होली' की चन्द्रकला में यही बात दीख पड़ती है। वह रजनीकान्त पर देखने मात्र से ही अनुरक्त हो जाती है, किन्तु वह इस सत्य को स्वीकार नहीं करती। मनोरमा से कहती है, "तुम जानती हो मैं किसे प्रेम करती हूँ—प्रेम दो चार से तो हो नहीं सकता और फिर अब प्रथम दर्शन में प्रेम का समय भी नहीं रहा। वह तो युग दूसरा था जब हृदय का रस संचित रहता था और अनायास किसी ओर वह उठता था। अब तो व्यय की मात्रा, संचय से अधिक हो गई है। उनके साथ प्रेम की नहीं...विनोद की बात हो सकती या उसके साथ खिलवाड़ हो सकता था...तबियत बहलायी जा सकती थी।" अन्यत्र उसका यह कथन परस्पर विरोधी प्रतीत होता है, "राम और सीता का, दुष्यन्त और शकुन्तला का; नल और दमयन्ती का, अज और इन्दुमती का प्रेम प्रथम दर्शन में ही हुआ था। स्त्री का हृदय सर्वत्र एक है क्या पूर्व क्या पश्चिम, क्या देश क्या विदेश। लेकिन मैं इस तरह अपनी सफ़ाई न दूँगी। संभव है मेरा यह काम स्त्री जीवन और समाज के विधान के नितांत प्रतिकूल हो...लेकिन अब तो मैं मर चुकी। इसका मुझे दुख नहीं है और न तो इसके लिए मैं पश्चात्ताप करूँगी।" कहीं-कहीं इस प्रकार के विरोधी कथन लेखक के नारी और सेक्स से सम्बद्ध विचार स्पष्ट नहीं कर पाये हैं। आज की नारी क्या चाहती है? उसका भारतीय जीवन के किस अंग से विरोध है? किस मार्ग का वह अनुसरण करना चाहती है? यह प्रश्न उसी प्रकार जटिल बने रहते हैं जैसे वह पहले थे। वह एक ओर तो बुद्धिवादी होना चाहती है तो दूसरी ओर पुराने संस्कारों से आबद्ध रहना चाहती है। एक ओर रूढ़िवादी तो दूसरी ओर प्रगतिवादी।

नारी-शिक्षा के सम्बंध में लेखक के विचार

नारी के प्रेम की इस व्याख्या के साथ ही साथ वह नारी सह-शिक्षा के विरोधी हैं। उनका कथन है, "इस शिक्षा में जो सबसे बढ़कर बुराई आयी है वह है लड़के और लड़कियों का साथ-साथ पढ़ना। यह रीति पश्चिम से आयी है, किन्तु अपने साथ वह सहिष्णुता नहीं ला सकी जो पश्चिम में इसका मूल तत्व है। यह हो, अच्छा है, किन्तु उसके साथ वह सहिष्णुता भी रहनी चाहिए। जवान लड़के और लड़कियाँ जहाँ दो चार नहीं, दस बीस नहीं, सौ पचास साथ पढ़ रहे हैं, बहुत संभव है कि कोई किसी की ओर देख ले—भूलकर पत्र दे—यह प्रकृति है, यह स्वभाव है। इसका......शिक्षालयों का नियमन 'मार्शल ला' से नहीं 'स्पिरिचुअल' अथवा 'कल्चरल ला' से होना चाहिए। यही उपयोगी होगा।" वास्तव में सह-शिक्षा और नारी-पुरुष के पारस्परिक सम्बंधों के विषय में लेखक के यह विचार महत्वपूर्ण हैं। जब यह एक स्वाभाविक और प्राकृतिक दुर्बलता है तो किसी एक पक्ष को उसका दोषी ठहराना कहाँ तक न्याय संगत है? होता यह है कि जितना ही लड़कों पर प्रतिबंध लगाकर उन्हें लड़कियों के साहचर्य से विमुख किया जाता है उतना ही आंतरिक रूप से दोनों एक दूसरे की ओर बढ़ना चाहते हैं। परिणाम यह होता है कि वातावरण और भी दूषित होता है।

पश्चिम में नारी और पुरुष दोनों ही इस सहशिक्षा से स्वावलम्बी बन सके इसका एकमेव कारण यह है कि उन्होंने वास्तव में अपने जीवन के मानदण्डों को बदल दिया है। उनका सामाजिक जीवन हमारे सामाजिक जीवन की तरह केवल 'मारल कोड' से बँधा हुआ नहीं चलता और न उनके नियमों में वह खोखलापन ही रह गया है जो हमारे यहाँ है। वे किसी वस्तु को समाज के सम्मुख करने में पुण्य और प्राइवेट रूप से करने में पाप नहीं समझते। वहाँ के लड़के और लड़कियों का बातचीत करना महान पातक नहीं समझा जाता। इसके अतिरिक्त वहाँ लड़के और लड़कियों की पवित्रता का 'कांसेप्ट' भी हमसे नितान्त भिन्न है। वहाँ नारी

पुरुष की परिचारिका मात्र ही नहीं और न जीवन के संघर्ष से ऊबने वाली है, वरन् वह जीवन के प्रत्येक भाग की समभागिनी है। हमारे यहाँ आधुनिक नारी शिक्षा प्राप्त कर जीवन को अधिक सुखद बनाने के स्थान पर 'ड्राइंगरूम की पेंटिंग' मात्र ही होकर रह गई है जिसकी व्यवस्था आज के सामाजिक और आर्थिक संक्रमण के युग में बड़ी भारी सामाजिक समस्या बन गई है।

सहशिक्षा का सबसे बुरा परिणाम जो हमारे देश के युवक और युवतियों पर पड़ा वह उनकी विवाह की समस्या है। आज सहशिक्षा के अंतर्गत जब दोनों की स्वाभाविक दुर्बलताएँ प्रेम का रूप धारण कर विवाह के बन्धन में बँधना चाहती हैं तो समाज की जाति व्यवस्था, धनिक तथा निर्धनवर्ग की व्यवस्था तथा सामाजिक संकीर्णता अनेक का जीवन बर्बाद कर देती है। इसी की एक झलक चम्पा और नरेन्द्र का विवाह विच्छेद है। इस सम्बंध में लेखक का विचार है कि जब तक हम अपनी सामाजिक मान्यताएँ और अपने जीवन की पवित्रता के मापदण्डों में आमूल परिवर्तन कर विदेशियों के अनुरूप ही सहिष्णु और उदार नहीं बन जाते तब तक हमारे यहाँ सहशिक्षा जीवन को विकासोन्मुख और सुखद बनाने के स्थान पर उसे दुखद और चिन्ताजनक ही बनायेगी।

विधवाओं के सम्बंध में लेखक के विचार

सहशिक्षा की इस महत्वपूर्ण समस्या के साथ सेक्स समस्या का जो दूसरा रूप हमारे समाने आता है वह है विधवा विवाह की समस्या। उन्नीसवीं सदी से ही विधवा विवाह की समस्या भारत की एक महत्वपूर्ण समस्या रही है और उसको सुलझाने के लिए विधवा आश्रम, विधवा विवाह आन्दोलन आदि अनेक आन्दोलनों का श्री गणेश हुआ पर उसमें विशेष सफलता नहीं मिली। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि मनुष्य अपनी दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त करने की अपेक्षा दूसरे की विपन्नता और दुर्बलता से सदा फ़ायदा उठाने का अभ्यासी रहा है। नारी की दरिद्रता, करुणा और दुर्दशा का मूल कारण पुरुष की वासनापूर्ति ही रही

है। विधवा विवाह के क्षेत्र में भी उसकी यही भावना काम करती रही है। आधुनिक युग में साहित्यकार तथा समाजसेवक विधवा विवाह के स्थान पर तलाक की प्रथा को अधिक उपयुक्त मानने लगे हैं। यह एक नवीन समस्या का सूत्रपात है जिसके द्वारा विभीषिका शान्त होने की अपेक्षा और बढ़ती दिखायी देती है। विगत वर्षों में विधवा विवाह का आन्दोलन केवल समाज के उन प्रतिष्ठापकों तक ही सीमित रह गया जो वास्तव में इस आन्दोलन का महत्व केवल भाषण तक ही सीमित रख सके। जीवन में सक्रियता के साथ यह न अपनाया जा सका और परिणामस्वरूप थोड़े ही दिनों में मृतप्राय सा हो गया। इसी प्रकार बढ़ते हुए तलाक आंदोलन का विरोध भी मिश्र जी करते हैं। उनका मत है कि नारी स्वतंत्रता की आड़ में इसका प्रचार विधवा विवाह से भी भयानक सिद्ध होगा। इसी कारण वह तलाक की अपेक्षा विधवा-विवाह का समर्थन करते हैं। अपने इस विचार को वह एक विधवा नारी के मुख से ही व्यक्त कराते हैं। मनोरमा कहती है, "विधवा-विवाह हो रहा है···लेकिन वैधव्य कहाँ मिट रहा है ? समाज इस आग को बुझा नहीं सकता इसलिये उसे अपने छज्जे से उठाकर अपनी नींव में रख रहा है। तुम्हारे सुधारक, राजनीतिज्ञ, कवि, लेखक, उपन्यासकार, नाटककार सभी विधवा के आँसुओं में बहते हुए देख पड़ रहे हैं। अपनी विशेषता मिटाकर संसार के साथ चलना चाहते हैं। वैधव्य तो मिटेगा नहीं...तलाक का आगमान होगा। अभी तक तो केवल वैधव्य की समस्या थी...अब तलाक की समस्या भी आ रही है। तुम्हारे कहानी लेखक इस समस्या को कला का आधार बना रहे हैं और इस प्रकार संयम और शासन को निकालकर प्रवृत्तियों की बागडोर ढीली कर रहे हैं। उनका उपभोग अधिक से अधिक उपभोग है और इसी को वे अधिक से अधिक सुख समझ रहे हैं। लेकिन उपभोग सुख ?"

लेखक का विचार है कि न तो समाज में विधवाओं का होना ही उचित है और न तलाक प्रथा। दोनों ही समाज के लिए घातक हैं पर इनमें से एक को अवश्य अपनाना होगा। ऐसी स्थिति में विधवा-विवाह

को ही क्यों न अपनाया जाय जिसमें अधिक कल्याण है। मनोरमा कहती है," स्त्री और पुरुष का सम्मिलित जीवन, सुख दुख दोनों का...न तो कोई शंका, न संदेह और न तलाक। किसी भी परिस्थिति में समझौता, और सामंजस्य। इस प्रकार समाज की स्थिति दृढ़ है। संभव है इसमें भी बुराई हो...लेकिन जीवन नितांत भला कहाँ है? विधवा-विवाह और तलाक दो बुराइयों में से एक दो पसंद करना पड़ेगा...नहीं तो दोनों बुराइयाँ तो समाज को निगल जाँयगी।" इसलिये वह अन्यत्र कहती है, "तुम मुझे उत्तेजित कर रहे हो। मैं विधवा हूँ इसलिये मैं विधवा विवाह के पक्ष में वोट दूँ? यही न? लेकिन मैं यह न करूँगी। विधवाओं के उद्धार के नाम पर आन्दोलन पुरुषों ने उठाया है अपने उद्धार के लिए। किसी प्रकृत विधवा से पूछो जो अभी तक पुरुषों के विषैले वातावरण में न आई हो...देखो उसकी दृष्टि पृथ्वी में गड़ जाती है या नहीं। तुम्हारी समझ में विधवाएँ समाज के लिए कलंक हैं, मै समझता हूँ समाज की चेतना के लिए विधवाओं का होना आवश्यक है। तुम जीवन का-विशेषत: स्त्री के जीवन का दूसरा पहलू भी समझते हो...देखते हो...उसके भीतर संकल्प है, साधना है, त्याग है। त्याग और तपस्या यही विधवा का आदर्श है और यह आदर्श तुम्हारे समाज के लिए गौरव की चीज़ है। तुमने इसे कलंक कह दिया। जितनी कोशिश इस आदर्श को मार डालने की हो रही है उतनी ही कोशिश इसे जीवित रखने के लिए होती तो तुम्हारा समाज और परिवार आज दूसरी चीज़ होता।"

नारी समस्या के अन्तर्गत वेश्या-वृत्ति पर भी लेखक ने प्रकाश डाला है। भारतीय वेश्याओं का घृणित चित्र उपस्थित करने में नाटककार को पर्याप्त सफलता मिली है। राक्षक का मंदिर की अश्गरी एक वेश्या है जो अंत में नारकीय जीवन का त्याग करती है। अश्गरी उस वेश्या वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है जिसका कार्य है संगीत और सुरापान द्वारा एक प्रतिष्ठित वकील की मन:तुष्टि करना। वेश्या के पतित और नारकीय जीवन के सजीव चित्र लेखक ने प्रस्तुत किये हैं। समाज में एक वेश्या की

स्थिति आज भी अत्यन्त पतित है और कोई भी उसे अपने में मिलाने को तैयार नहीं। आज भी उसका धर्म उसकी मानवता को ढके है।

हम मौखिक रूप से समाज सुधार की चाहे जितनी बातें करें, किन्तु वेश्याओं के सम्बंध में हमारी आन्तरिक भावना सहानुभूति के स्थान पर घृणा का संचार करती है। शिक्षित होते हुए भी हमारे पूर्व संस्कार इतने प्रबल है कि हम किसी प्रकार अपनी मनोभावना बदलने में असमर्थ हैं। अशगरी समाज उद्धारक के रूप में 'मातृ मंदिर' में आ जाती है। कुछ नागरिक इसका विरोध करते हुए कहते हैं, "जिसने जन्म भर वेश्या का काम किया...उसकी तबियत धर्मशाले में नहीं लगेगी। मुझे तो यह सब पसंद नहीं पड़ता हैं।...जो जैसा करता है पाता है, जैसी भाग्य होती हैं। भाग्य को कौन बदल सकता है। मैनेजर साहब बाजारू औरतों तक का भाग्य बदल देना चाहते हैं...हो सकता है बाबू कहीं यह भी। यह बड़ा मुश्किल काम है। ब्रह्मा का लिखा झूठा आदमी कर देगा, जिसके ललाट में वेश्या होना लिखा होगा—वह कही भी रहेगी वहीं रहेगी।" इस प्रकार लेखक ने कई स्थानो पर वेश्या वृत्ति और उसके वास्तविक जीवन के सजीव चित्र प्रस्तुत किये हैं।

लेखक के धार्मिक विचार

सामाजिक उथल पुथल और पाश्चात्य सभ्यता के संपर्क से उत्पन्न होने वाली जिन समस्याओं के सम्बंध में लेखक ने अपने विचार व्यक्त किये हैं उनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। हमारे जीवन में आर्थिक और सामाजिक क्रांतियाँ तो हुई और हो रही है पर धार्मिक क्षेत्र में भी इसका कम प्रभाव नहीं पड़ा। धर्म के नाम पर प्रचलित पूजा पाठ और अनेक विधान सभी में परिवर्तन होने लगा। मनुष्य की आस्था इन सब आडंबरों से हटकर जीवन की सुव्यवस्थित प्रणाली की ओर जाने लगी जिसे उसने धर्म की संज्ञा दी। उसका धर्म नैतिकता, पवित्र जीवन और मानवता की प्रतिष्ठापना आदि गुणों से अनुप्राणित होकर इनकी ओर उन्मुख हुआ। इसके आगे बुद्धिवादी को सब कुछ व्यर्थ दिखायी देने लगा।

अपने बुद्धिवादी दृष्टिकोण के अंतर्गत मिश्र जी धर्म की व्याख्या इन शब्दों में करते है, "धार्मिक विश्वास का मूल, जैसा कि लोगों का भ्रम है बाहरी व्यवस्था में नहीं है और न तो इस बात में है कि हमारे आस पास लोग किस देवी-देव की पूजा करते हैं—कौन कौन व्रत रखते हैं या किस विधि से दान करते हैं। मेरे मस्तिष्क और मन में शायद कोई ऐसी बात है जो कि मुझे धर्म की प्रदर्शिनी के भीतर पैर नहीं रखने देती। भिन्न भिन्न धर्मों में उपासना की जो प्रचलित प्रणालियाँ हैं—उन्हें मैं (discipline) केवल नियमन कह सकता हूँ—साधारण लोगों की दुनियादारी में इन बातों में लाभ हो सकता है—लेकिन जहाँ व्यक्तिवाद का यह अटल सिद्धांत आ पड़ता है "मैं स्वयं अपनी कोटि का हूँ। यहाँ धर्म और ईश्वर की भावना भी व्यक्ति की जिम्मेदारी पर छोड़ देनी चाहिए। धर्म का निर्णय किसी विशेष मत की मौन स्वीकृति या जन्म और जाति की मर्यादा में नहीं हो सकता। ऐसा करना तो जानबूझकर आध्यात्मिक करागार बनाना होगा। धार्मिक संस्कृति का सामूहिक रूप सदैव उनके लिए होता है जिनकी कल्पना स्वतंत्र व्यक्तित्व या स्वतंत्र चिंतन की ओर नहीं पहुँचती जिसका अपना कोई रास्ता नहीं होता—जिनके विवेक का अन्त इसी में है "जिधर सब चलेंगे उधर हम भी।" सच्चा धर्म और सच्चा प्रकाश तो वह दशा है जहाँ पहुँच जाने पर अधर्म या अंधकार से फिर भेंट न हो। आत्म अनुभूति की यह दशा-जहाँ सुख-दुख प्रेम घृणा, प्रकाश अंधकार या जीवन और मत्यु का भेंट मिट जाता है—मनष्य द्वैत की माया से निकल जाता है।"

लेखक की भारतीय संस्कृति और विचारधारा में निष्ठा

लेखक के ऐतिहासिक और सांस्कृतिक नाटकों में हमें उसके भारतीय दृष्टिकोण के दर्शन होते हैं। ऐतिहासिक नाटकों के अन्तर्गत हम उनके ऐतिहासिक और पौराणिक नाटक दोनों को ही लेकर चलेंगे। उनके ऐतिहासिक नाटकों का अधिकांश कथानक मौर्य, गुप्त तथा शुंग वंश का काल है जिसमें भारतीय समाज, साहित्य और कला अपने चरमोत्कर्ष पर

थी। अपने गौरवपूर्ण इतिहास तथा संस्कृति पर अपार श्रद्धा होने के कारण ही मिश्र जी भारतीय संस्कृति के महान अनुगमनकर्ता हैं। 'वत्सराज' और 'अशोक' जैसे नाटकों में हमे लेखक की सांस्कृतिक निष्ठा का परिचय मिलता है। 'गरुड़ध्वज' नाटक में उन्होंने इतिहास के बिखरे सूत्रों को सँजोकर तथा अपनी कल्पना का आधार लेकर जिस कथानक का सृजन किया है वह संभव है आगे चलकर ऐतिहासिक तथ्य बन सके।

'वत्सराज' उदयन के चरित्र की मीमांसा करने का मिश्र जी का अपना दृष्टिकोण है। संस्कृत नाट्य परंपरा में उदयन का चरित्र महान रखा गया है। भास ने अपने दो नाटकों 'स्वप्नवासवदत्ता' और 'प्रतिज्ञायोगन्धरायण' में उदयन के रूप, गुण और शील का सुन्दर वर्णन किया है। इतना ही नहीं मिश्र जी के शब्दों में, "बाद को महराज हर्षवर्धन, क्षेमेन्द्र और सोमदेवी ने भी सरस्वती के मन्दिर में उदयन-चरित्र के फूल चढ़ाये। सच तो यह है कि विभूति संपन्न भगवान श्री रामचन्द्र और श्री कृष्ण को छोड़कर कोई दूसरा चरित्र ऐसा नहीं देख पड़ता, जिसने कवियों, साहित्यकारों, कलाकारों को इतना अधिक आकर्षित किया हो जितना अकेले वत्सराज उदयन ने किया है।"

अपनी इसी विचारधारा के कारण 'वत्सराज' की रचना में उन्होंने घटनाओं तथा नाटक की कथावस्तु के क्रमिक विकास का ध्यान छोड़कर उदयन के चारित्रिक विकास को ही प्रमुखता दी है। उनके इसी विशिष्ट दृष्टिकोण के कारण नाटक घटना प्रधान होने के स्थान पर चरित्र प्रधान हो गया है। उनका यह नाटक एक विशिष्ट प्रतिक्रिया का परिणाम दीखता है जिसके पीछे बौद्ध युग की परंपरा (विशेष रूप से 'मरपरदीपित उदेवबन्धु') तथा उसी से प्रभावित प्रसाद जी की विचारधारा है जिसका प्रकाशन उन्होंने 'अजातशत्रु' में किया है। उक्त-नाटक में चित्रित उदयन के विलासी चरित्र को पुनः प्रकाशित करना ही 'वत्सराज' नाटक का प्रमुख ध्येय दीख पड़ता है। जैसा कि वे कहते हैं, "इसी बौद्धकथाओं के प्रभाव में हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार स्वर्गीय 'प्रसाद' ने 'अजातशत्रु' नाटक में उदयन का चित्रण

लम्पट, विलासी और विवेकहीन भोगजीवी के रूप में किया है और अपने इस कार्य में वे भास, हर्षदेव और कालिदास की उदयन सम्बंधी भावनाओं को भूल गये हैं। वत्सराज उदयन के चरित्र गौरव को भुला देना उनके लिए कठिन इसलिये नहीं हुआ कि वे अपने नाटकों में भारतीय जीवन दर्शन के सिद्धांतों को पहले ही भूल चुके थे। उनके नाटक भास और कालिदास की परंपरा में न होकर शेक्सपियर की परंपरा में ढल चुके थे और इसलिये नाटकों में प्रणय की जगह छिछले 'रोमांस', और कर्मयोग की जगह आत्महत्याओं की बाढ़ आ गई है।"

लेखक ने अपने प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक 'अशोक' में भी अशोक का चरित्र भारतीय विचारधारा के अनुरूप चित्रित किया है। अशोक की विशेषता मिश्र जी की अपनी विशेषता है। उन्होंने बौद्ध होने से पूर्व अशोक के जीवन में दया, क्षमा, भ्रातृत्व आदि गुणों का समावेश किया है तथा उसका बौद्ध होना परिस्थिति-जन्य दिखाया है, स्वाभाविक चित्र के विरोध का परिणाम नहीं। विदेशी डायना का चरित्र भी शुद्ध भारतीय चरित्र दिखायी देता है जिसका जीवन प्रेम तथा त्याग की आधार भूमि पर जन्म लेकर अन्त तक उसी प्रकार बना रहता है।

इस प्रकार ऐतिहासिक नाटकों के सृजन की मूल प्रेरणा में भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठापना तथा उत्सर्ग की भावना सर्वत्र व्यापक दिखायी देती है। साथ ही बौद्ध संघर्ष भी इन ऐतिहासिक नाटकों का प्राण है। बौद्ध धर्म का खंडन करने में मिश्र जी ने एक बात विशेषरूप से ध्यान में रखी है और वह है परिस्थितियों का प्रभाव। उनका खंडन, कोरा खंडन नहीं, वरन् उसके साथ ही उन्होंने उसके गुणों को अपनाने की चेष्टा भी की है। अशोक का बौद्ध होना एक विशेष परस्थिति में दिखाया गया है। अशोक के बौद्ध होने से पूर्व उसके जीवन और चरित्र में जिन दैवी गुणों को दिखाया गया है उनके कारण वह अशोक के चरित्र की महानता का श्रेय बौद्ध धर्म के स्थान पर अप्रत्यक्ष रूप से आर्य संस्कृति और सभ्यता को देते हैं।

'गरुड़ध्वज' में तो यह भावना और भी उग्ररूप से सामने आती है।

इसमें काशीराज के बौद्ध होने का तिरस्कार विक्रममित्र करता है। लेखक के मतानुसार कोई वस्तु इस कारण हेय नहीं कि उसे कोई धर्म कहता है अथवा उसका परंपरा से खंडन किया गया है और न कोई वस्तु इस कारण ही श्रेष्ठ हो जाती है कि हम उसे ऐसा मानते हैं। हमारा कर्त्तव्य है कि ऐतिहासिक परिस्थितियों को, परंपराओं को, खोज कर उनमें छिपे सत्य को अपनी बुद्धि की कसौटी पर कसकर देखें और उनकी वास्तविकता की परख करें तभी वास्तव में हम उसके प्रति न्याय कर सकते हैं। कालिदास को शुंग-युग का समकालीन सिद्ध करने का लेखक का अपना प्रयास है।

कला और साहित्य के सम्बंध में लेखक का दृष्टिकोण

अब तक हमने नाटकों में वर्णित विषयों द्वारा नाटककार की विचार धारा का सूत्र एकत्र करने का प्रयास किया है। अब हम लेखक की नाट्यकला और उसकी विशेषता पर विचार करेंगे। इस सम्बंध में सबसे प्रमुख प्रश्न यह है कि कला तथा उसका जीवन से क्या सम्बंध है? जीवन को सुखी और उपयोगी बनाना उसका ध्येय है अथवा काल्पनिक चित्रण करना ही पर्याप्त है? इन प्रश्नों से सम्बद्ध लेखक की विचारधारा क्या है यह जान लेना, उसकी नाट्यकला का मूल्यांकन करने के लिए नितांत आवश्यक है।

मिश्र जी आधुनिक युग के कलाकार हैं जिन पर पाश्चात्य तथा प्राच्य दोनों ही साहित्यों का प्रभाव पड़ा है। एक ओर जहाँ वे भारतीय सभ्यता के प्रचारक हैं तो दूसरी ओर कला को जीवनोपयोगी मानकर चलते हैं। उनका विचार है कि आज जब मानव आधुनिक कलपुर्जों की भाँति एक मशीन बन कर रह गया है, बिना सुव्यवस्थित समाज के उसका जीवन सुखी नहीं हो सकता। मनुष्य सामाजिक प्राणी है और समाज की प्रत्येक समस्या उसकी अपनी समस्या है, अतएव उससे विमुख होकर भागने वाली कला, कला नहीं कही जा सकती। आपका कथन है, "कला का अन्त स्वप्न की फुलवारी में नहीं होता—उसका अन्त तो होता है जीवन समुद्र के उस किनारे जहाँ आँधी है और वज्र है—बिजली है और उल्कापात

है—जहाँ मानव जीवन की विषमताएँ एक के बाद दूसरी भयंकर लहरों के रूप में उठती और बैठती हैं—जहाँ मनुष्य का सारा ज्ञान और आदर्श··· सुख, दुख, शोक, हर्ष, प्रेम और घृणा जंजीरों की तरह टूट कर मनुष्य को सदैव के लिये स्वतंत्र कर देती हैं, जहाँ मनुष्य प्रवृत्तियों और मानसिक दुर्बलताओं का गुलाम न होकर अपना राजा बन बैठता है।

आप जीवन को तटस्थ भाव से देखने वाली तथा उसको परोक्ष रूप से चित्रित करने वाली कला को कला नहीं मानते। ऐसी कला नहीं जो "जिन्दगी की चहारदिवारी के चारों ओर घूम आना यह तो शायद कला नहीं—उसे कहीं न कहीं तोड़कर [क्योंकि उसके भीतर घुसने का कोई वास्तविक रास्ता नहीं है] उसके भीतर घुसना होता है, उसके भीतर घुस जाने पर···ओफ़ कितना भ्रम और किता आडंबर ! कितना भुलावा और कितनी आत्मप्रवंचना, सचाई को छिपाने के लिये सभ्यता, संस्कार, शिक्षा, नियम और कानून एक से बाद दूसरे इस तरह अनेक पर्दे।"

बुद्धिवाद इस आडंबर को हटा देता है। इस आवरण को हटाकर वास्तविकता प्रस्तुत करना ही उसका कर्त्तव्य है। वे अन्यत्र कहते हैं, "बातें तो हमने की आदर्शवाद की लेकिन उसके भीतर नहीं देखा वहाँ कितना प्रकाश और कितना अंधकार था। हमारे भीतर जो राक्षस है उसको भोजन तो हमने खूब दिया—लेकिन वह जो देव था···वह भूखों मर गया।" इतना ही नहीं आप अपने इसी विचार को इन शब्दों में और भी स्पष्ट करते हैं, "···लेकिन वह जो देव है···कभी मरता नहीं ! भोजन और जल न मिलने पर कमजोर हो जाता है···मालूम होता है कि वह मर गया क्योंकि उसकी ध्वनि तब नहीं सुनायी पड़ती जब कि वह निर्बल और साहसहीन हो जाता है। ज्योंही वातावरण में परिवर्तन होता है—उसे भोजन और जल मिलने लगता है वह जाग उठता है, सबल होकर मनुष्य की जिन्दगी की बागडोर अपने हाथ में सम्हालता है। उसका भोजन और जल क्या है ? ऊँची कला इसी रहस्य का उद्‌घाटन करती है। यही कला की चिरंतन सेवा है।"

कला की उपयोगिता के सम्बंध में लेखक के उपर्युक्त विचार महत्वपूर्ण हैं। इसी कारण आपकी रचनाओं में लगाव-लिपटाव की कहीं कोई गुंजाइश नहीं रहती। वह अपना प्रभाव जमाने के लिए वातावरण का निर्माण नहीं करती वरन् सीधे बुराई पर आक्षेप करती है। उनका यह बुद्धिवादी दृष्टिकोण आज के सन्देहवाद और आदर्शवाद को हटाकर यथार्थ और वास्तविकता की खोज करता है। उनकी कला इसी बुद्धिवाद पर आधारित है जिसकी व्याख्या वे इन शब्दों में करते हैं, "बुद्धिवाद किसी तरह का हो—किसी कोटि का हो समाज या साहित्य की हानि नहीं कर सकता। बुद्धिवाद में 'शुगर कोटेड' कुनैन की व्यवस्था है ही नहीं। वह तो तीक्ष्ण सत्य है। उसका घाव गहरा होता है लेकिन अंग भंग करने के लिए नहीं, मवाद निकालने के लिए—हमारी प्रसुप्त चेतना को जाग्रत कर हमारे जीवन में नवीन जीवन और नवीन स्फूर्ति पैदा करने के लिए। योगियों का मत है कि विचार की शृङ्खला अनंत आकाश में क्षोभ और कंपन पैदा करती है—बुद्धिवाद स्वतंत्र विचार की स्वतंत्र धारा है—वह जीवन का अनन्त वेग और अनन्त प्रकाश है। अगर संयोग से कला के मूल में बुद्धिवाद की धारणा हुई तो कला को एक प्रकार का अक्षय आधार मिल जाता है—एक प्रकार का ऐसा आधार जिसमें मनुष्य और उसके अनन्त वातावरण को हिला देने की ताकत है। हाँ हिला देने की—और इस हिलने में केवल मनुष्य के मनोवेग या अस्थाई लालसाएँ ही नहीं हिलतीं, बल्कि उसमें वह सब जो अनश्वर और अनादि हैं—एक साथ ही हिल उठता है—उसकी चेतना क्षुब्ध होकर उसके चारों ओर फैल जाती है—जीवन का कारागार खुल जाता है—वह अपनी सीमा का अतिक्रमण कर अपने से बहुत ऊँचे पहुँच जाता है, यही बुद्धिवाद हैं, यही कला है।"

कला का उद्देश्य जीवन की व्याख्या तथा जीवन को जीवन समझकर उसकी उठती हुई आवश्यकताओं का चित्रण करना ही है। इसी कारण केवल सत्य का सहारा लेकर वह जीवित रह सकती है। सत्य की ओर से आँख मूँदकर आनन्द की ओर भागना कला का उद्देश्य नहीं कहा

जा सकता। आज कला का दृष्टिकोण वास्तविकता से हटकर विनोद की ओर बढ़ता जा रहा है जो वास्तव में बड़ा ही घातक है। आज का मनुष्य प्रत्येक वस्तु का गंभीरता से न तो चिन्तन ही करता है और न उसका सूक्ष्म अवलोकन। उसे तो आज हर वस्तु में शीघ्रता रहती है और जल्दबाजी में गहराई तक पहुँचने की व्यापक दृष्टि नहीं हो सकती। इसी का विरोध कर मिश्र जी कहते हैं, "कला तो जीवन का वसन्त है। सत्य की ओर आँख मूँदकर आनन्द की ओर दौड़ना आनन्द को और दूर कर देता है। लेकिन यहाँ तो सत्य और आनन्द दोनों को छोड़कर, दुनिया विनोद की ओर बढ़ रही है—और इसका सबसे बड़ा साधन हो रहा है कला का व्यापार। यह चाहे और जो कुछ हो कला तो नहीं है।" और इस विनोद का भीषण परिणाम हमें समाज में दिखायी दे रहा है। यथातथ्य की आड़ में आज वासना का जो अश्लील चित्रण हो रहा है वह कला का व्यापार ही है। इस विचारधारा का लेखक ने इस प्रकार खंडन किया है,—"आज के अधिकांश कलाकार जब अपने काँपते हुए हाथ और लालसा से जर्जरित आत्मा के सहारे कला का निर्माण करने चलते हैं—तब हँसने में, रोने में, जीने में और मरने में, सोने में और जागने में अपने सुन्दर शब्द और सुन्दर वाक्य खतम कर डालते हैं। और कला के मन्दिर के नाम जिस इमारत का निर्माण करते हैं उसमें, अतृप्त वासनाओं और नग्न मनोवेगों की शराब चलती रहती है—फल यह होता है कि चेतना यदि सदैव के लिए नहीं तो बहुत दिनों के लिए सो जाती है।"

इस प्रकार का साहित्य वास्तव में जीवनोपयोगी साहित्य न होकर वासना को उभार कर, दुर्बलताओं को और भी नग्न रूप में सामने रखता है। साथ ही यह भी निश्चित है कि कला, साहित्य का व्यापारिक अस्त्र नहीं, वरन् वह तो साहित्य को परिमार्जित करने और सत्य को सत्य रूप में प्रतिष्ठापित करने का माध्यम है। कला या साहित्य, जीवन की आवश्यकता है और अपने इस विचार को लेखक इस प्रकार व्यक्त करता है, "साहित्य या कला व्यसन नहीं, आवश्यकता है, मनुष्य के हृदय की

मस्तिष्क की और आत्मा की। जीवन का विकास ज्यों ज्यों होता जाता है—कला की आवश्यकता भी उसी परिमाण में बढ़ती जाती है—यह आवश्यकता ऐसी नहीं जो हटायी जा सके या जिसके बिना भी काम चल सके। अपनी अपूर्णता को मिटाने के लिए मनुष्य जिस रास्ते की खोज सदा से करता आया है वह रास्ता इसी कला के भीतर होकर गया है।" लेखक "कला कला के लिए" इस सिद्धांत का कट्टर विरोधी है। जीवन की कटुता और सुन्दरता जो नहीं देख सकता वह कलाकार नहीं हो सकता—वह कहते हैं, "कला का निर्माण कला के लिए' इसके लिए तो मैं कदाचित् एक लाइन भी नहीं लिख सकूँगा। जिसे कुछ कहना नहीं है—कुछ निश्चित नही करना वह चुप रहे, लेखनी को आराम करने दे। इसी में उसका भी भला है और दुनिया का भी। जो समझ नहीं सकता, लिख भी नहीं सकता। वह क्या लिखेगा"।

लेखक ने इसी कारण वास्तविकता चित्रित करने वाले तत्वदर्शी कलाकार का उल्लेख किया है। वह तत्वदर्शी कलाकार और कुछ नहीं युग का प्रतिनिधित्व करने वाला, युग की आवश्यकताओं को समझने वाला होता है, जिसकी व्याख्या मिश्र जी इन शब्दों में करते हैं, "युग की समस्याओं का प्रभाव सबसे पहले कवि की, नाटककार की, उपन्यासकार की या एक शब्द में रचयिता की आत्मा पर पड़ता है। वह जो अनुभव करता है अच्छा या बुरा, ईमानदारी के साथ तुम्हारे सामने रखता है, तुम्हारी आँखें खोलना चाहता है। उसके जीवन की अनुभूति तुम्हारे जीवन में प्रवेश करती है। तुम भीतर ही भीतर बदल जाते हो तुम्हें पता नहीं चलता। जब तुम दुनिया पर नज़र डालते हो—देखते हो दुनिया बदल गई तुम भी बदल गये। जो कुछ था सब बदल गया। यह क्या है? सब कुछ नया? यह काम कलाकार का नहीं तत्वदर्शी कलाकार का है।" ऐसे कलाकार की कला ही जीवित कला होती है। वही जीवन को समझता है और जीवन का मार्गदर्शन करता चलता है। मिश्र जी के विचार से कला का उद्देश्य केवल आनंद देना नहीं, वरन् पाठक के सम्मुख वास्तविकता

प्रस्तुत करना है। आपका कथन है, "कला की सफलता इन्द्रियों को सुख देने में नहीं— मनुष्य के भीतर पश्चात्ताप पैदा करने में है।"

लेखक का नाटकीय आदर्श और 'टैकनीक'

कला तथा कलाकार के उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त नाटक की टैकनीक के सम्बंध में भी लेखक के विचारों को जान लेना आवश्यक है। मिश्र जी ने नाटकों के पात्रों की बहुलता को बहुत अंश में घटा दिया है। साथ ही दृश्यों तथा अंकों के विभाजन और उनकी संख्याओं में भी काफी कमी कर दी है। इसका कारण स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं, "रंगमंच का संगठन ऐसा होना चाहिए कि दर्शकों को ऐसा न मालूम हो कि हम लोग किसी अजनबी जगह में या किसी जादूघर में आ गए हैं। जिस स्वाभाविकता के साथ हम अपने घर में रहते है उसी स्वाभाविकता के साथ हमें रंगमंच पर भी रहना है—अथवा दूसरे शब्दों में रंगमंच और हमारे स्वाभाविक जीवन में कोई विशेष अंतर नहीं व्यक्त होना चाहिए।

नाटकों में रंगमंच की स्वाभाविकता के साथ ही साथ गीतों का समावेश कहाँ तक उचित है यह भी विचारणीय प्रश्न है। गीत ऐसे होने चाहिए जो नाटकों की गतिविधि में बाधक न हों। अपने इसी विचार को लेखक ने इस प्रकार व्यक्त किया है, "मेरे नाटक में गीत रखना बहुत जरूरी नहीं। कभी कभी तो गीत समस्याओं के प्रदर्शन में बाधक हो उठते हैं। इस युग में नाटक का उद्देश्य मनोरंजन की बेहूदी धारणा से आगे बढ़ गया है। जीवन की जटिलता और गूढ़ रहस्यों को खोलकर दिखलाने का काम आज दिन नाटकों द्वारा जितनी सुगमता से हो सकता है, साहित्य के किसी भी अन्य विभाग से उतनी सुगमता से नहीं हो सकता। रंगमंच के ऊपर कृष्ण भी गा रहे हैं, दुर्गा भी गा रही हैं, गणेश भी गा रहे हैं, यह अच्छा नहीं है। नाटक में गीत का पक्षपाती मैं वहीं तक हूँ जहाँ तक इसे मैं जीवन में देख पाता हूँ। जिस किसी चरित्र का स्वाभाविक झुकाव मैं संगीत की ओर देखूँगा—उसके द्वारा दो चार गीत गवा देना मैं मुनासिब समझूँगा।"

अभिनय की दृष्टि से नाटकों में स्वाभाविकता होना अत्यन्त आव-श्यक है। आपका कथन है, "तोते की तरह रटे हुए शब्दों को रंगमंच पर दुहरा देना ठीक नहीं होता। मुँह से जो शब्द निकलें उनके साथ ही शरीर के अंगों का संचालन भी ऐसा होना चाहिए कि जो आपस में सामंजस्य स्थापित कर— रंगमंच पर मनुष्य की स्वाभाविक जिन्दगी दिखला दे और हमारा नित्य का जीवन जैसा है रंगमंच का जीवन उसके साथ मेल खा सके। इसी कारण मैंने स्वगत की प्रणाली को अस्वाभाविक समझ कर छोड़ दिया।"

अंत में मिश्र जी के इन शब्दों के साथ जहाँ वे नाटकों के समस्त पात्रों की विशेषताएँ बतलाते हैं, हम इस प्रसंग को समाप्त करते हैं, "यदि तुम असंभव के फेर में पड़कर यथार्थ से ऊब नहीं चुके हो, तो मुझे विश्वास है तुम मुझसे सहमत होगे। मैंने जान बूझकर मनोरंजन करने के लिए या धोखा देने के लिए किसी को पापी और किसी को पुण्यात्मा नहीं बनाया है। मैंने अपने चरित्रों को जिन्दगी की सड़क पर लाकर छोड़ दिया है। वे अपनी प्रवृत्तियों और परस्थितियों के चक्करदार घेरे में होकर रुकते हुए, थकते हुए, ठोकर खाते हुए आगे बढ़ते गये और बराबर एक सच्चे जिज्ञासु की तरह उनके पीछे बड़ी सावधानी से चलता रहा हूँ। मैंने उन्हें देखा है और समझा है। उनकी सभी बातों को उनकी सारी जिन्दगी को। मैं किसी के भीतर नहीं हूँ और सब के भीतर हूँ। उनमें न मुझे कोई प्रिय है और न अप्रिय। वे सभी मेरे हैं— उन सबका मैं हूँ।"

रचनाओं पर पाश्चात्य लेखकों का प्रभाव

हिन्दी नाट्य-साहित्य के इतिहास का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु युग के पहले हिन्दी में इने-गिने नाटकों की ही रचना हुई। भारतेन्दु युग में हिन्दी नाटकों की रचना कुछ कुछ व्यवस्थित ढंग से आरंभ हुई। हिन्दी के तत्कालीन लेखकों पर अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक शेक्सपियर का प्रभाव पड़ना बहुत कुछ स्वाभाविक था। बंगला के प्रतिष्ठित नाटककार श्री द्विजेन्द्र लाल राय, जिनकी कई रचनाएँ हिन्दी में

भी अनुवादित होकर प्रकाशित हुई शेक्सपियर से पूर्णतया प्रभावित थे। द्विजेन्द्र लाल राय की रचनाओं में वास्तविक और यथार्थ चित्रण की अपेक्षा भावुकतामय काल्पनिक प्रेम के अतिरंजित चित्र ही अधिक प्रस्तुत किये गए।

यह वास्तव में आश्चर्यजनक ही है कि जिस समय हिन्दी लेखकों पर शेक्सपियर की नाट्य-प्रणाली का प्रभाव पड़ रहा था और बहुत कुछ उसी के अनुकरण पर बँगला और हिन्दी के नाटकों की रचना हो रही थी, उसी समय योरप में सन् १८७५ में शेक्सपियर की लोकप्रियता क्षीण हो चली थी। उस समय योरप के लेखकों ने शेक्सपियर की प्रणाली को एक सीमा तक मनोविज्ञान और यथार्थ से प्रतिकूल घोषित कर दिया था। इस क्रान्तिकारी विचारधारा का श्री गणेश करने वाला प्रसिद्ध नाटककार इब्सन था।

इब्सन ने शेक्सपियर के नाटकों की भावुकता और काल्पनिक चित्रण को समाज के लिए अनुपयोगी सिद्ध करते हुए इसे अस्वाभाविक और अमनोवैज्ञानिक बतलाया। उसने नाट्य-रचना की नई प्रणाली को जन्म दिया और उसके द्वारा अंग्रेजी साहित्य में ऐसी क्रान्ति का श्री गणेश हुआ जिससे कुछ ही समय में उसकी लोकप्रियता की धाक जम गई। उसने अपनी रचनाओं में तत्कालीन सामाजिक जीवन की विषमताओं को वास्तविक और यथार्थ रूप में चित्रित किया और इस प्रकार साहित्य में एक नवीन धारा प्रवाहित की। शेक्सपियर की नाट्य प्रणाली को उसने मनोविकारों का बनावटी उद्गार मात्र कह कर उसे केवल मनोरंजन और विनोद तक ही सीमित बताया। उसके विचार से जिस साहित्य में समाज की अपेक्षा केवल कल्पना द्वारा भावुक चित्रण ही प्रस्तुत किये गए हों वह किसी भी अर्थ में कला के वास्तविक अर्थ की पूर्ति नहीं कर सकता।

इब्सन ने लगभग बीस वर्ष तक अपने नाटकों द्वारा उक्त नवीन आदर्श प्रस्तुत किया। प्राचीन परिपाटी का विरोध करते हुए उसने साहित्य को मनोरंजन और विनोद तक ही सीमित कर देना प्रत्येक दृष्टि से अनुपयोगी बतलाया। जब तक साहित्य और जनसाधारण का सीधा

सम्पर्क नहीं होता तब तक उसकी जड़ें स्थायी नहीं रह सकती। यह तभी संभव हो सकता है जब साहित्य में जनसाधारण की समस्याओं को स्थान दिया जाय। व्यक्ति और समाज के संघर्ष को चित्रित करने में उसने व्यक्ति की रक्षा और उसकी समस्याओं का वास्तविक रूप प्रस्तुत करने में अपनी सारी शक्ति लगा दी। उसकी धारणा थी कि समाज की उन्नति के लिए हमें व्यक्ति की उन्नति करनी होगी। सामाजिक कुरीतियों और आडम्बरों का उसने जोरदार शब्दों में खंडन किया। समाज और सभ्यता का विकास तभी संभव हो सकता है जब व्यक्ति का जीवन सुखी और समुन्नत हो। इसी कारण उसकी रचनाओं में जनसाधारण के नित्य प्रति जीवन की समस्याओं तथा मानवीय-दुर्बलताओं का सफल चित्रण प्रस्तुत किया गया है। नारी-पुरुष के आकर्षण को उसने पूर्णतया स्वाभाविक बताते हुए मनुष्य की उन प्रवृत्तियों पर पर्दा डालने अथवा उनका विस्तार करने को अत्यन्त घातक बताया। वास्तविकता, सत्य और मानवीय दुर्बलताओं से मुख मोड़कर काल्पनिक आदर्श की बात करना उसने समाज और देश की उन्नति के लिए पूर्णतया घातक सिद्ध किया।

इब्सन की यह विचारधारा इतनी प्रभावपूर्ण सिद्ध हुई की परवर्ती नाटकों का स्वरूप ही बदल गया। उसने साहित्य और समाज के बीच की खाई भर कर अपनी रचनाओं का कथानक सीधे जनसाधारण के जीवन से प्राप्त किया। जनसाधारण की समस्याओं को भावुक भाषा में चित्रित करने के स्थान पर उसने बुद्धिवादी विचारधारा का प्रवर्त्तन किया। इस सम्बंध में उसका विचार था कि किसी भी समस्या को बुद्धि और तर्क द्वारा हल करना ही उचित है। उसका बुद्धिवाद अंधविश्वास और बाहरी आडंबरों के विरोध में था। मनुष्य अपने अंतर की दुर्भावनाओं को छिपाकर ऊपर से जिस आदर्श की बात करता है उसका उसने खंडन किया। आदर्श और सभ्यता की प्रगति की आड़ में अपनी दुर्बलताओं को छिपाकर हम स्वयं अपने को धोखा देते हैं। निःसंदेह इब्सन की कला के इतना अधिक लोकप्रिय होने का सबसे बड़ा कारण यह था कि उसने जिस प्रकार के

साहित्य का सृजन किया उसमें प्रत्येक व्यक्ति की निजी भावनाएँ लक्षित हुईं और इसी कारण उसके प्रति जनसाधारण की सहानुभूति बढ़ी। उसकी कला में जनजीवन की जिस व्यापक भावना के दर्शन होते हैं वही उसकी ख्याति और लोकप्रियता का आधार है।

डा० रामप्रसाद त्रिपाठी ने मिश्र जी के सामाजिक नाटक 'सिन्दूर की होली' की भूमिका में इब्सन की विचारधारा और उसके प्रभाव को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "इब्सन के विचारों से प्रेरित होकर योरप के अन्य देशों में भी नये नये नाटककार उठ खड़े हुए। चारों ओर आन्दोलन फैल गया। नाट्य-कला की पुरानी पद्धति जिसका आदर्श काल्पनिक चित्रण, बनावट सजावट और येनकेन प्रकारेण केवल मनोरंजन ही था लोगों को अरुचिकर प्रतीत होने लगी। बनावटी बातचीत, तुकान्त वाक्यों, रचना की कृत्रिमता से लोग ऊब उठे। दिनों दिन यह विचार बढ़ने लगा कि नाटकों का लक्ष्य सामाजिक जीवन और समस्याओं का विवेचन ही होना चाहिए। अतएव जीवन की वास्तविक समस्याओं पर प्रकाश डालने और सुलझाने के लिए ही नाटक लिखे जाने लगे। उनमें वास्तविकता, यथार्थता और सत्य की प्राधानता बढ़ने लगी। जिस प्रकार नाटकों का लक्ष्य बदलने लगा उसी प्रकार नाट्यकला में भी परिवर्तन होने लगा। कृत्रिमता, तड़क-भड़क सजधज, चटपटीपन, बाह्याडंबर को छोड़कर लोग स्वाभाविकता, सरलता और तत्वानुसन्धान की ओर बढ़ने लगे। परिणाम यह हुआ कि नये ढंग की नाट्यशालाएँ और रंगमंच बनने लगे। यह आन्दोलन फ्रांस में आंत्वान और रूस से स्टेनिस्लाव्सकी ने ज़ोरों के साथ किया।"

अंग्रेजी नाट्य-साहित्य में इब्सन ने समस्या प्रधान सामाजिक नाटकों की जिस नवीन धारा को प्रवाहित किया उसका प्रभाव उस समय के अन्य लेखकों पर भी पड़ा। अंग्रेजी नाट्य-साहित्य पर इब्सन की विचारधारा के प्रभाव का उल्लेख करते हुए श्री इवान्स ने अपनी पुस्तक में लिखा है, "Much has been written of the influence of Ibsen on the English Drama, but apart from G. B. Shaw it is difficult to

find anyone deeply affected by the great Norwegian. His work towers over all that the English stage has produced in the modern period: with his poetical plays, Brand and Peer Gynt, we have nothing even to offer in comparison, while his social and psychological dramas from 'The Dolls House,' 'Ghosts' and 'An enemy of the People' to, when we Dead Awakin' are far more subtle in stagecraft and profounded in thought, than anythlng in the modern English theatre."[1]

इब्सन की नाट्यकला के सम्बंध में श्री आर्थर काम्पटनरिकेट ने अपनी पुस्तक में बरनर्डशा के इस कथन को उद्धृत किया है, "What Ibseu purposed to effect has been thus expressed in Mr. Shaws exuberant style," what we might have learned from Ibsen was that our fashionable dramatic material was worn out as far as cultivated modern people are concerned that what really interests such people on the stage is not what we call action—meaning too well known and short sighted actors pretending to fight a duel without their glasses, or a handsome leading man chasing a beauteous leading lady round the stage with threats, obviously not feasible of immediate rapine—but stories of lives, discussion of conduct, unveiling of motives, conflict of characters in talk, laying bare of souls, discovery of pitfalls, in short, illumination of life. He did not take us by storm, but he shook our self-complacency."[2]

इब्सन के बाद अंग्रेजी नाटककारों में श्री बरनर्ड शा की रचनाएँ सर्वाधिक लोकप्रिय और प्रभावपूर्ण सिद्ध हुई। आपकी रचनाओं पर भी

१ Ifor Evans: Ashort history of English Literature page 115.

२ Arthur ComptonRickett. A History of English Literature

इब्सन की बुद्धिवादी विचारधारा का प्रभाव पड़ा और उसी दिशा में आपने अपनी प्रखर प्रतिभा और रोचक वर्णनशैली में साहित्य का सृजन किया। आपकी कृतियों में सामाजिक रूढ़ियों और आडंबरों की कटु आलोचना के साथ ही व्यक्ति और समाज के संघर्ष का मर्मस्पर्शी चित्रण किया गया है। नैतिकता की आड़ में पलने वाली मानवीय दुर्बलताओं का स्वाभाविक चित्रण करने में आपको अत्यधिक सफलता मिली है। पाश्चात्य सभ्यता के खोखलेपन और सामाजिक कुरीतियों पर जितना व्यंग्यात्मक और यथार्थ चित्रण शा की कृतियों में मिलता है उतना कदाचित् अन्यत्र नहीं।

श्री शा की रचनाओं की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए कज़ामिन ने लिखा है,"

"The international success of Shaw's Drama is not due to the novelty or to the intrinsic value of his philosophy. Half-way from the abstract to the concrete, there are intermediary stages, the sensible aspects of those relations that the mind establishes, between the terms which pure analysis has brought out. Shaw perceives these relations as human and social facts. Therefore his imagination is much less gifted for patient studies of surrounding and characters than for the vivacious, clashing and striking expression of ideas his talent has found itself in a special variety of comedy, in which discussions, the argument between animated and personified opinions, hold first place. Borrowing from Ibsen the general outline of his dramas of ideas, Bernard Shaw has not often succeeded like him, in creating such confiicts of tendencies as would set at war human beings roused by the elemental passions of their natures."[1]

१ Ligouis and Cazamiane : A short History of English Literature

शा की रचनाओं से न केवल अंग्रेजी साहित्य, वरन् संसार के अन्य देशों के साहित्य भी परोक्ष रूप से प्रभावित हुए बिना न रह सके। यद्यपि आरंभ में शा को इस नवीन साहित्यक धारा का अनुसरण करने में बहुत कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं, किन्तु कुछ ही समय में उनकी रचनाओं का उचित मूल्यांकन किया जाने लगा। सामाजिक समस्याओं पर आधारित उनकी ये रचनाएँ सर्वत्र आदर से पढ़ी-पढ़ायी जाने लगी। प्रारम्भ में नाटक कंपनियों ने शा के नाटकों का अभिनय करना अस्वीकार कर दिया। इतना ही नहीं उसके कुछ नाटकों का अभिनय करने पर सरकार द्वारा भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। यह सब होते हुए भी शा ने अपनी विचारधारा न बदली और वह उसी प्रकार सामाजिक विषमताओं पर अपनी रचनाएँ प्रस्तुत करते रहे। कुछ ही समय में उनकी प्रखर प्रतिभा और साहित्यिक योग्यता की ख्याति न केवल इंगलैंड में, वरन् सम्पूर्ण संसार में हो गई। सन् १९२६ में उनकी रचनाओं पर उन्हे नोबल पुरस्कार प्रदान किया गया और इस प्रकार सभी देशों में शा की रचनाओं की धूम मच गई।

शा के नाटकों का उल्लेख करते हुए चेस्टर्टन महोदय ने टाल्सटाय से उनकी तुलना करते हुए लिखा है,

"The first thing that Bernard Shaw did when he stepped before the footlights was to reverse this process. He resolved to build a play not on pathos, but on bathos......Like Tolstoy he tells men with coarse innocense, that romantic war is only butchery and that romantic love is only lust. But Tolstoy objects to these things because they are real, he really wishes to abolish them. Shaw only objects to them in so far as they are idealised. Shaw objects not so much to war as to the attractiveness of war. He does not so much dislike love as the love of love."[1]

१ Chesterton : George Bernard Shaw--page 51-53.

शा की प्रखर-प्रतिभा के सम्बंध में चेस्टर्टन महोदय ने अन्यत्र लिखा है,"
"The brain of Shaw was like a wedge in the literal sense. Its sharpest end was always in front, and it splits our society from end to end the moment it had entrance at all." इसी प्रसंग आगे चलकर शा की बुद्धिवादी विचारधारा के सम्बंध में आपने लिखा है, "This is the first and the finest item of the original Bernard Shaw creed: that if reason says that life is irrational, life must be content to reply that reason is lifeless; life is the primary thing; and if reason impedes it, then reason must be trodden down into mire amid the most object superstitions. In the ordinary sense it would be specially absurd to suggest that Shaw desires man to be a mere animal. For that is always associated with lust or incontinence, and Shaw's ideals are strict, hygienic, and even, one might say, old-maidish."[1]

उपर्युक्त उद्धरणों से शा की विचारधारा बहुत कुछ स्पष्ट हो जाती है। अब हमें इस बात पर विचार करना है कि मिश्र जी की रचनाओं पर इब्सन और शा की इस विचारधारा का कहाँ तक और किस रूप में प्रभाव पड़ा है। इस सम्बंध में सर्वप्रथक मिश्र जी का यह कथन विचारणीय है, "जहाँ तक मेरे नाटकों पर इब्सन और शा का प्रभाव बताया जाता है, वहाँ तक मैं इतना मानता हूँ कि मेरे नाटकों की ऊपरी वेश-भूषा अवश्य योरोपीय नाटकों से प्रभावित है, नाटक का भावलोक उसका अंतरंग पश्चिमी नाटककारों से प्रभावित नहीं। इब्सन से योरप के साहित्य में निश्चित क्रान्ति हुई थी, पर इब्सन की पद्धति योरप की शोकांतिकाओं और शेक्सपियर के विरोध में थी, जिनमें जीवन कल्पना से बनाया गया था। वह स्वाभाविक धरती का जीवन था जिसे इब्सन ने अपने नाटकों

१ Chesterton : George Bernard Shaw, page 83.

में दिया। परन्तु इस देश के लिए इब्सन की क्रान्ति का कोई महत्व नहीं। भास और कालिदास तथा संस्कृत के अन्य कोई नाटककार इब्सन के प्रायः एक हजार वर्ष पूर्व के जीवन की स्वाभाविकता के अधार पर नाटक लिख चुके थे।

मिश्र जी के इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आपने पाश्चात्य नाटकों के बहिरंग को लेकर उसे अपने देश की मान्यताओं के अनुसार रंगने का प्रयास किया है। इसमें संदेह नहीं कि लेखक के समस्या-प्रधान सामाजिक नाटकों में संघर्ष और व्यंग्य आदि का जैसा चित्रण मिलता है उसमें शा का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। साथ ही स्वाभाविकता और यथार्थ का जिस प्रकार लेखक ने चित्रण किया है वह भी इन्हीं पाश्चात्य नाटककारों से किसी न किसी रूप में प्रभावित होकर। मिश्र जी की बुद्धिवादी विचारधारा जिसके अनुसार समाज और व्यक्ति के बीच होने वाले संघर्ष को मिटाने के लिए तथा जीवन की अन्य समस्याओं को हल करने के लिए हमें बुद्धि और तर्क का सहारा लेना चाहिए, पश्चिमी साहित्य का प्रभाव है।

इब्सन और शा की विचारधारा से प्रभावित होते हुए भी हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि मिश्र जी के सामाजिक नाटक जिन समस्याओं पर आधारित हैं, वह पाश्चात्य-साहित्य से बहुत कुछ भिन्न हैं। हमारे देशवासियों के जीवन और पाश्चात्य जीवन में बहुत अंतर है, और इसी कारण हमारी पारिवारिक, सामाजिक अथवा राजनैतिक समस्याएँ भी उनसे भिन्न हैं। इन समस्याओं का हल भी हमें अपने ही ढंग से खोजना होगा। अतः मिश्र जी की रचनाओं में जिस प्रकार के कथानक को लेकर समस्याओं के हल प्रस्तुत किये गए हैं वह पाश्चात्य-साहित्य से बहुत कुछ भिन्न हैं।

इस सम्बंध में मिश्र जी ने अपने आलोचक मित्रों को सम्बोधित करते हुए कहा है, "तुमने संदेह किया है कि कदाचित् मैंने अपने नाटक में बरनर्ड शा का अनुकरण करने का प्रयत्न किया है। इसका कारण जहाँ तक मैं समझ सका हूँ—यही है कि इसमें मैंने सामाजिक और राजनैतिक

रचनाओं पर प्रकाश डाला है और यही काम किया है बरनर्ड शा ने। मैं तुमसे स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि बरनर्ड शा का अनुकरण भारत में संभव नहीं। बरनर्ड शा की सूखी विवेक और तर्क की प्रणाली आध्यात्मिक अनुभूति के समझने में सफल न हो सकी। पश्चिम और पूर्व के जीवन में अंतर है। उनका विरोध जीवन की उन बनावटी बातों से है जिनके कारण पश्चिम आज अशांत है, किन्तु टाल्सटाय अथवा रोम्यारोलाँ की तरह उन्होंने शान्ति के किसी नये रास्ते का पता नहीं लगाया।"[1]

मिश्र जी के इन विचारों को ध्यान में रखते हुए भी हम यह कह सकते हैं कि उनके सामाजिक नाटकों का बहिरंग इन पश्चात्य नाटककारों से प्रभावित है। नाटकों के चुने हुए थोड़े से पात्र गीत और स्वगत कथनों का न होना, दृश्य विधान की नवीन पद्धति, भावुकता के स्थान पर पात्रों का विवेक और तर्क द्वारा समस्याओं पर प्रकाश डालना आदि बातें पाश्चात्य नाटकों के ही अनुरूप हैं। नाट्यकला की पुरानी पद्धति जिसके अनुसार नाटकों में काल्पनिक चित्रण और भावुक स्थलों का होना एक प्रकार से आवश्यक समझा जाता था, मिश्र जी की रचनाओं में नहीं है। जीवन की वास्तविकता और उसका यथातथ्य चित्रण लेखक की कृतियों की एक प्रमुख विशेषता है जिसका आधार पाश्चात्य नाटक ही हैं। यह सब होते हुए भी मिश्र जी का आदर्श और नाटकों के चरित्र पूर्णतया भारतीय हैं। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि मिश्र जी के नाटकों का बहिरंग पाश्चात्य लेखकों से प्रभावित होते हुए भी उनका अतरंग पूर्णतया भारतीय है। मिश्र जी के इस नवीन दृष्टिकोण और समस्या प्रधान सामजिक नाटकों की इस नवीन धारा का हिन्दी नाट्य-साहित्य में विशेष महत्व है।

अशोकवन

'अशोकवन' में लेखक के पाँच ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक एकांकी संग्रहीत हैं। इस पुस्तक का नामकरण प्रथम एकांकी नाटक 'अशोकवन'

१. संन्यासी, भूमिका पृष्ठ १.

पर ही आधारित है । इसमें लेखक ने रामायण के उस प्रसिद्ध प्रसंग पर प्रकाश डाला है जिसमें रावण द्वारा जानकी को 'अशोकवन' में वन्दिनी बनाकर रखे जाने का वर्णन मिलता है । एकांकी का आरम्भ 'अशोकवन' में जानकी और दासी सुनन्दा के वार्तालाप से होता है जिससे यह विदित होता है कि रावण किसी न किसी प्रकार जानकी के प्रेम को प्राप्त कर उसे अपनी रानी बनाने के लिए विकल है । साथ ही जानकी के कथनों द्वारा राम के प्रति उनके एकनिष्ठ प्रेम का दिग्दर्शन कराया गया है । इसी बीच महारानी चित्रांगदा का आगमन होता है । जानकी उन्हें माता कह कर संबोधित करती हैं । चित्रांगदा कहती है कि उसके पति रावण को यह विश्वास है कि किसी दिन तुम उनके रूप, गुण और वैभव पर मोहित होकर रहेगी । जानकी इसका दृढ़तापूर्वक विरोध करती हैं । चित्रांगदा द्वारा जानकी का शृंगार किया जाता है और इसी अवसर पर रावण अपनी दूसरी पत्नी मन्दोदरी के साथ अशोकवन में प्रवेश करता है । रावण यह स्वीकार करता है कि जनक की इस कन्या की ओर देखने का भी उसे साहस नहीं होता । रावण प्रणय-निवेदन करता है जिसके उत्तर में जानकी कहती हैं कि मेरे लिए संसार में आर्यपुत्र को छोड़ कर अन्य कोई पुरुष नहीं हैं ।

इस लघु एकांकी में लेखक ने जानकी और रावण के चरित्र को सजीवता के साथ प्रस्तुत किया है । नाटक के कथोपकथन प्रभावशाली है । रावण के प्रणय-निवेदन का उत्तर देते हुए जानकी कहती हैं, "......तो इसका अर्थ यह कि राक्षसराज मुझसे प्रणय-निवेदन करते हैं । आत्मसमर्पण नारी करती है राक्षसराज, पुरुष नहीं और पुरुष जब यह करता है फिर पुरुष नहीं रह जाता । देव विजयी रावण किसी नारी से प्रणय का प्रस्ताव करें तब पौरुष धूल में लोटेगा और वीरता विडंबना होगी ।" इस प्रकार के कथोपकथन नाटक को सजीवता प्रदान करने में समर्थ है । लेखक ने रावण की दोनों रानियों चित्रांगदा तथा मन्दोदरी का चित्रण भी अत्यन्त कुशलता से किया है । चित्रांगदा द्वारा जानकी को बेटी के रूप में स्वीकार करना नाटककार की अपनी सूझ हैं ।

कौशाम्बी

इस एकांकी का कथानक इतिहास प्रसिद्ध कौशाम्बी नरेश उदयन के चरित्र पर आधारित है। लेखक के एक अन्य नाटक 'वत्सराज' में भी उदयन का चरित्र-चित्रण अत्यन्त कुशलता से किया गया है। प्रस्तुत एकांकी में नाटककार ने उदयन को वीर, कलापूर्ण और आदर्श चरित्र के रूप में प्रस्तुत किया है। आरम्भ में ही वासवदत्ता और उदयन के कथोप-कथन अत्यन्त प्रभावपूर्ण हैं। वासवदत्ता उदयन से कहती है कि शाक्य-कुमार गौतम द्वारा पुत्र और पत्नी का त्याग कर संन्यास ग्रहण करने के दुखद समाचार से देश की प्रत्येक नारी दुखी है। उसका कथन है, "इसीसे मेरी आँखों में आँसू नहीं सूखते···पद्मावती सारा दिन रोती रही है। आज आहार भी नहीं लिया उसने। कौन कठोर होगी जो गोपा के दुःख में न रोये।" इसके उत्तर में उद्‌यन अपने को अर्जुन के कुल का बताते हुए कहता है कि एक शाक्यकुमार के आचरण से प्रकृति नहीं बदलेगी। वासव-दत्ता और पद्मावती को प्रसन्न करने के लिए उदयन वीणा बजाता है।

एकांकी में दृश्य-परिवर्तन के साथ कुमार को गौतम की शिष्यता ग्रहण करते हुए दिखाया गया है। बुद्ध चतुरमास में कौशाम्बी के लिए प्रस्थान करते हैं और उनके साथ कुमार का भी आगमन होता है। पद्मावती और वासवदत्ता कुमार के दीक्षित होने से विकल हैं। उन्हें सांत्वना देते हुए उदयन कहता है कि तथागत ने कुमार को दीक्षित करने के पूर्व मेरी स्वीकृति नहीं ली है। अंत में कुमार की रक्षा करने के लिए उदयन स्वयं संन्यास ग्रहण करने का निश्चय करते हैं।

अगले दृश्य में कौशाम्बी में सम्राट कनिष्क और अश्वघोष के वार्तालाप से यह विदित होता है कि अशोक के समय में ही संघ में हीन आचरण होने लगे थे। कनिष्क संघ की बुराइयों को दूर कर उसे फिर से शुद्ध करने की प्रतिज्ञा करता है। अंत में सम्राट हर्षवर्धन और चीनी पर्यटक हुयेनचाँग को कौशाम्बी के ध्वंसावशेष में वार्तालाप करते हुए दिखाया गया है।

प्रस्तुत नाटक में उदयन का चरित्र वीर, संयमी और कला प्रेमी सम्राट के रूप में प्रदर्शित किया गया है। उसके कथोपकथन प्रभावशाली हैं। उदाहरणार्थ एक स्थान पर उसका यह कथन देखिये, "मैं सब कुछ तथागत के आदेश से नहीं करता। उदयन व्यक्ति की पूजा नहीं करेगा चाहे वह स्वयं तथागत हों। हमारे संन्यास और बौद्धों की विरक्ति में भेद नहीं। पुराने संन्यास का यह नया रूप है, पर श्रमण बालकों और युवकों को विरक्त बनाना प्रकृति के साथ अनाचार है। प्रकृति इसे सह न सकेगी ...तुम्हारे संघ उत्तेजना के मंद पड़ने पर वासना की बाढ़ में डूब जायेंगे!" कौशाम्बी के प्राचीन वैभव और परंपरा को नाटक में सफलता के साथ प्रस्तुत किया गया है।

विदिशा

इस नाटक की पृष्ठभूमि यवन-सेना के आक्रमण और वसुमित्र की वीरतापूर्ण विजय पर आधारित है। नाटक का आरम्भ विदिशा के राज-भवन से होता है, जहाँ यवन-सेना पर विजय प्राप्त करने के उपलक्ष्य में उत्सव मनाये जा रहे हैं। शुंग सेनापति अग्निमित्र यवन-सेना पर अपने पुत्र वसुमित्र की विजय के उल्लास में आनन्द विभोर हैं और वह इस विजय का श्रेय अपनी पत्नी धारिणी को देते हैं। विजयी वसुमित्र से तक्षशिला के यवनराज अंतिओक दीक्षा ग्रहण करते हैं।

दृश्य-परिवर्तन के साथ कवि कालिदास का प्रवेश होता है जिन्हें विक्रममित्र पुत्रवत स्नेह करते हैं। काशिराज की कन्या वासंती को विक्रममित्र यह बताते हैं कि, उसका अपहरण देश और जाति की मर्यादा की रक्षा के लिए किया गया था। इसी अवसर पर काशिराज और कालिदास का आगमन होता है। विक्रममित्र यह सूचित करते हैं कि उन्होंने काशिराज की कालिदास और वासंती को काशी ले जाने की प्रार्थना स्वीकार कर ली है।

तीसरे दृश्य में कालिदास और विक्रममित्र विदिशा के शौर्य और पराक्रम के प्राचीन इतिहास का उल्लेख करते हुए दिखाये गये हैं। अंत में

कालिदास के हृदय में एक ऐसे नाटक की रचना करने की प्रेरणा उठती है जिसमें सेनापति पुष्यमित्र, अग्निमित्र और वसुमित्र के चरित्र सजीव हो उठें।

नाटक के आरम्भ में ही लेखक का कथन है, "मेघदूत में कालिदास ने विदिशा को राजधानी शब्द से विभूषित किया है। शुंग काल में अवन्ती पाटलिपुत्र और साकेत जैसी महानगरियों के रहते हुए भी उस पुत्र की राजनीति और धर्मनीति का संचालन विदिशा से होता रहा। उसी इतिहास के तीन चित्र......" ऐतिहासिकता की दृष्टि से यह नहीं कहा जा सकता कि प्रस्तुत नाटक के तथ्य कहाँ तक मान्य हैं। फिर भी जिस वर्णन-शैली और विचारधारा के हमें दर्शन होते हैं वह हमारे आदर्शों के अनुरूप हैं।

नाटक की भाषा प्रवाहपूर्ण है। उदाहरण के लिए कवि कालिदास की प्रशंसा में विक्रममित्र का यह कथन देखिये, "पर हम कवि उसे मानते हैं जो प्रकृति और जीवन के सत्य का भार उठाता है......लोकरंजन और लोकतृप्ति जिसकी वाणी बिखेरती है......जो अपनी भूमि में उस तरह गड़ा है जैसे वह सामने पीपल का पेड़......जो भावनाओं में डूब नहीं मरता......यह देश कालिदास से अपना प्रेम, कर्म, वैराग्य, राग और अनुराग ले रहा है जो इसने कभी वाल्मीकि और व्यास से लिया था।" नाटक रोचक और प्रवाहपूर्ण है।

भविष्य का गर्व

प्रस्तुत एकांकी संग्रह का यह चौथा नाटक है। इस एकांकी में लेखक ने ईसा के पूर्व भारतीय उपनिवेश सुवर्ण द्वीप में बसी एक भारतीय कन्या वासंती तथा जयन्त की प्रेम-कथा का रोचक चित्रण प्रस्तुत किया है। कुल चार पात्रों को लेकर प्रस्तुत एकांकी की रचना की गई है जिनमें से जयन्त और वासंती भारतीय हैं और शंकर और काली, द्वीप के मूल निवासी हैं।

वासंती की माँ गंगादेवी ब्राह्मण कुमारी थी जो भिक्षुणी होकर भिक्षुओं के दल के साथ सुवर्णद्वीप पहुँच जाती है। वासंती का जन्म वहीं

होता है। भारत में पुष्य मित्र बौद्ध सत्ता मिटाकर ब्राह्मण विचारधारा का प्रचार करने में प्रयत्नशील दिखाये गए हैं। इतना ही नहीं वह भारतीय उपनिवेश सुवर्णद्वीप की वृत्ति भी बन्द कर देते हैं। एकांकी की नायिका वासंती इन परिवर्तनों के प्रति अपना आंतरिक विरोध प्रकट करती है। दूसरी ओर एकांकी का नायक और वासंती का प्रेमी जयंत इस उपनिवेश में ब्राह्मण विधान का प्रचार करने के उद्देश्य से जाता है।

वासंती अपने प्रेमी जयंत के सम्मुख उसके उद्देश्य के प्रति अपना विरोध प्रकट करते हुए कहती है, "देश के जो लोग यहाँ पहले आये थे वे बौद्ध थे। तुमने उनकी वृत्ति बंद कर दी। अब जो वैष्णव होगा वही तुम्हारी वृत्ति पा सकेगा। कुछ दिन के बाद तुम्हारे यहाँ कोई दूसरा संप्रदाय चलेगा और तब यहाँ लोगों से कहा जायगा वस्त्र की तरह फिर विश्वास बदलने के लिए। यह सब ऐसे क्या चलेगा ?" वह जयंत को स्वीकार कर नये रंग में रँगने की अपेक्षा मूल निवासियों में मिल जाना श्रेयस्कर समझती है। उसका कथन है, "मैं अपने चमड़े को रंग कर काला कर लूँगी और इन्हीं मूल निवासियों में मिल जाऊँगी।" इसी निश्चय के अनुसार वह अपने प्रेमी जयंत को उसकी आशा छोड़ वापस लौट जाने की सलाह देती है।

प्रस्तुत एकांकी में लेखक ने सुवर्णद्वीप के मूल निवासियों, उनके रहन-सहन और उनके जीवन-पद्धति के रोचक चित्र प्रस्तुत किया है।

'अशोकवन' एकांकी संग्रह का अंतिम एकांकी 'दशाश्वमेध' है नाटककार ने इसी कथावस्तु को लेकर एक पृथक् नाटक की रचना की है जिस पर अन्यत्र विचार किया जा चुका है।

भाषा-शैली

भाषा वह साधन है जिसके द्वारा हम भावों का आदान-प्रदान करते हैं। आदिम युग से ही मनुष्य किसी न किसी रूप से अपने भावों को प्रगट करता आया है। कालान्तर में जब से उसने भाव विनिमय की विधि शब्दों द्वारा निकाली तभी से समुचित रूप से हमारी भाषा का विकास हुआ। आधुनिक युग तक आते-आते भाषा का महत्व अत्यधिक बढ़ गया और किसी भी रचना में शब्द-चयन और भाषाप्रवाह को प्रमुख स्थान दिया जाने लगा।

भाषा के दो प्रमुख तत्व होते हैं—(१) विचार तथा (२) इच्छा। इन्हीं को श्यामसुन्दर दास जी ने (१) व्यक्तनाद तथा (२) विचार और भाव कहा है। व्यक्तनाद से तात्पर्य उस उच्चारण या बाह्य रूप से है जिसके द्वारा हम अपने विचार या भाव व्यक्त करते हैं। भाव और विचार में वे मानसिक क्रियाएँ आती हैं जिन्हें हम व्यक्तनाद द्वारा प्रगट करते हैं। इस प्रकार यह दोनों अन्योन्याश्रय सम्बंध से जुड़े हैं। इन दोनों अंगों से विभूषित हो भाषा हमारे मनोभावों को व्यक्त करने में सहायक होती है।

वैसे तो सभी प्रकार की रचनाओं की प्रभावोत्पादकता और सफलता बहुत कुछ भाषा पर ही आश्रित रहती है, किन्तु नाटकों में विशेष रूप से भाषा का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। कहानी और उपन्यास में लेखक वर्णनात्मक शैली द्वारा कथावस्तु और पात्रों के चरित्र को स्पष्ट कर सकता है, किन्तु नाटक में लेखक को यह सब पात्रों के कथोपकथनों द्वारा ही कराना पड़ता है। इस प्रकार यदि कथोपकथन सरल, स्वाभाविक और गठे हुए न हों तो नाटक प्रभावपूर्ण नहीं हो सकता। नाटकों में यह भी आवश्यक है कि पात्रों के स्वभाव और चरित्र को ध्यान में रखकर उसी के अनुकूल कथोपकथनों की भाषा रखी जाय। नाटककार के लिए कथा-

वस्तु को विकसित करने अथवा किसी पात्र के चरित्र को स्पष्ट करने के लिए कथोपकथनों के अतिरिक्त अन्य कोई सहायक उपकरण नहीं रहता। अतः नाटकों में भाषा का महत्व सर्वाधिक है।

इसके अतिरिक्त कविता तथा उपन्यास आदि तो शिक्षित समाज तक ही सीमित रहते हैं, पर नाटक ही साहित्य का ऐसा अंग है जो जन-जीवन के सीधे सम्पर्क में आता है और इसी कारण साहित्य में उसका सबसे महत्वपूर्ण स्थान है। लेखक, नाटक द्वारा ही अपने भावों को जन-साधारण के हृदय तक सबसे सीधे और सरल रूप में पहुँचा सकता है। साथ ही नाटककार की जिम्मेदारी भी सबसे अधिक होती है। अतः भाषा का माध्यम ऐसा होना चाहिए जो जन-जीवन के लिए सहज-सुलभ तथा बुद्धि ग्राह्य हो। इस प्रकार सफल नाटककार के लिए भाषा का महत्व और भी बढ़ जाता है।

मिश्र जी ने जिस समय साहित्य जगत में प्रवेश किया उस समय भाषा की समस्या और भी जटिल थी। एक ओर तो प्रसाद की काव्यमय भाषा जिसका प्रयोग न केवल कविता में वरन् नाटकों और कहानियों में भी उन्होंने किया था और दूसरी ओर जनसाधारण की बोलचाल की भाषा थी। प्रसाद जी के नाटकों में भाषा का जो संस्कृतनिष्ठ स्वरूप हमें मिलता है वह वास्तव में भारतीय जन-जीवन की भाषा न होकर शिक्षित तथा उच्च वर्ग की भाषा है। हिन्दी का साधारण ज्ञान रखने वाला व्यक्ति संस्कृत के तत्सम शब्दों की उस क्लिष्ट वाक्य-रचना को समझ भी नहीं सकता। 'स्कंदगुप्त' तथा 'चन्द्रगुप्त' आदि नाटकों में ऐसे अनेकों स्थल मिल जाते हैं। इस प्रकार की भाषा का अभिनय में प्रयोग करना जहाँ अभिनेताओं के लिए अस्वाभाविक और कठिन है, वहाँ दर्शक वर्ग के लिए तो वह और भी कठिन हो जाती है। इस कारण प्रसाद के परवर्ती नाटककारों के सामने यह प्रश्न था कि वह अपनी रचनाओं में किस प्रकार की भाषा का प्रयोग करें।

मिश्रजी की भाषा में स्वाभाविकता

मिश्र जी ने नाटकों में क्लिष्ट भाषा का प्रयोग जनसाधारण के लिए दुरूह और अस्वाभाविक समझते हुए अपनी रचनाओं में सरल और बोल-चाल की भाषा का प्रयोग किया है। वे स्वाभाविकता के पक्षपाती हैं और इस सम्बंध में उनका कथन है, "जिस स्वाभाविकता के साथ हम अपने घर में रहते हैं उसी स्वाभाविकता के साथ हमें रंगमंच पर भी रहना है—अथवा दूसरे शब्दों में रंगमंच और हमारे स्वाभाविक निवास में कोई विशेष अंतर नहीं व्यक्त होना चाहिए। कला का काम है जीवन को जगा देना। इस कारण इस युग में रंगमंच की स्वाभाविकता पर बहुत ध्यान दिया जाने लगा है।" इससे यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि जब रंग-मंच का स्वरूप हमारे घर की ही तरह होगा तो उसमें बोलने वाले अथवा अभिनय करने वाले बोलचाल को भाषा की ही प्रयोग करेंगे। निस्संदेह घर पर कोई कविता अथवा भाषण द्वारा अपने विचार व्यक्त नहीं करता। लेखक ने अपने इसी विचार के अनुसार अपने समस्त नाटकों में स्वाभाविक भाषा का प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं अंग्रेजी, हिन्दी और संस्कृत की प्रसिद्ध उक्तियों का भी प्रयोग किया गया है।

उदाहरणार्थ 'राजयोग' नाटक में आधुनिकता के आडंबर का मनोरमा कितने स्वाभाविक ढंग से खंडन करती है, और वह भी कितने सीधे-सादे शब्दों में, "...तुम्हारे सरकार प्राचीनता के विरोधी हैं। पुरानी सभी बातें उनके लिए बुरी हैं, उनमें कोई सार नहीं। तीर्थ और व्रत सब कुछ आडंबर और ढकोसला है, स्वर्ग-नरक लोगों को ठगने के लिए ब्राह्मणों ने बनाया है। कर्मकाण्ड बुद्धितत्व के प्रतिकूल है। रियासत में पुश्तैनी नौकरी न रहे यह बात सिद्धान्त के प्रतिकूल हैं। जो कुछ हो, नया हो, विलायत की नकल हो और प्राणायाम का नाम सुनते ही मुस्करा पड़ते हैं। शंख की ध्वनि इतनी कर्कश होती है कि अनायास ही कानों में उँगलियों और नाक सिकुड़कर एक अंगुल ऊपर उठ जाती है।" शब्दों में सरलता के

साथ ही साथ कितने व्यंग्यात्मक ढंग से विदेशी सभ्यतानुकरण की आलोचना की गई है।

'सिंदूर की होली' में इसी प्रकार कवि और वैज्ञानिक की मनःस्थिति का वे इन शब्दों में विश्लेषण करते हैं, "अच्छा बाँसुरी हाथ में है। कवि और गायक भावुक जीव होते हैं। आप सुई देना कैसे बर्दाश्त कर सकें? लेकिन मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि उसकी चिन्ता मुझे आपसे कम नहीं है। अंतर केवल इतना है कि आप उसके शरीर को कष्ट नहीं देंगे... चाहे वह मर जाय...लेकिन मैं जिलाना चाहूँगा चाहे उसके शरीर को कष्ट हो।" लेखक ने मनोजशंकर द्वारा इसका उत्तर जिन शब्दों में दिलाया है उसकी सजीवता भी उल्लेखनीय है, "जी नहीं, उसी पुरानी परिपाटी को फिर से जगा रहा हूँ। मनुष्य अपनी आदिम अवस्था में आज से कहीं अधिक स्वस्थ था—इसलिये कि तब डाक्टर न थे। मनुष्य था, और शक्ति और जीवन का केन्द्र प्रकृति थी। स्वास्थ के कृत्रिम साधनों और बोतल की दवाइयों ने स्वास्थ की जड़ काट दी। स्वास्थ तो आप लोगों की आलमारियों में बंद है...लेकिन यह बहुत दिन नहीं चलेगा। प्रकृति अपना बदला लेगी। प्रकृति के रास्ते पर लौट आना...नीरोग होना दोनों बराबर है।"

स्पष्टता और सरलता के साथ जीवन की गहराइयों तथा दार्शनिक मतवादों को सुलझाने के लिए जहाँ लेखक ने सीधी-सरल भाषा का प्रयोग किया है वहाँ कहीं-कहीं सिद्धान्त-वाक्यों का भी प्रयोग मिलता है। नीति विषयक सिद्धांत-वाक्यों के यह प्रयोग देखिए :—"रमणी और पृथ्वी उसी के वश में रहती है जो संकट के समय में विनोद करता है।" पौरुष की, रूप और गुण की परीक्षा संकट में ही होती है। यह संस्कृत के प्रसिद्ध वाक्य— "वीर भोग्यावसुन्धरा" का ही रूपान्तर है।" इसी प्रकार अन्यत्र वह सत्य की कटुता को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—"तीक्ष्ण है न? तब फिर सत्य के लिए...क्यों? सत्य तीक्ष्ण होता ही है।"

नाटकों में स्वाभाविकता की ही दृष्टि से हमें लेखक के किसी भी नाटक में स्वगत कथन अथवा अनावश्यक गीतों का समावेश नहीं

मिलता। लेखक का विचार है कि केवल पागल व्यक्ति ही इस प्रकार एकांत में बड़बड़ाता है और इस कारण नाटकों में स्वगत कथन की परिपाटी को वे मनोवैज्ञानिकता की दृष्टि से पूर्णतया अशुद्ध मानते हैं। गीतों के सम्बंध में भी लेखक का विचार है कि नाटक की कथावस्तु के विकास में अनावश्यक गीतों की योजना बाधक सिद्ध होती है। इसी विचार से लेखक ने नाटकों में स्वगत कथन और गीतों की प्राचीन परिपाटी का अपनी रचनाओं में पूर्णतया बहिष्कार किया है।

हास्य और व्यंग्य

भाषा के परिष्कार के साथ ही अब मुहावरों तथा कहावतों का अधिक प्रयोग भाषा से हटने लगा है और उनके स्थान में शब्द-शक्तियों का प्रयोग कर हास्य और व्यंग्य आदि के सहारे भाषा को सजीव और प्रभावोत्पादक बनाया जाता है। इसमें संदेह नहीं कि जिन लेखकों का भाषा पर अधिकार होता है वे बड़े बड़े वाक्यों की अपेक्षा थोड़े से चुने हुए शब्दों में ही अपने मनोभाव अथवा विचार स्पष्ट कर देते हैं। मिश्र जी ने अपने नाटकों में व्यंग्य को सबसे अधिक स्थान दिया है। उनका ध्येय है रूढ़ियों और आडंबरों का खंडन करना अतः उन्होंने प्रायः सभी नाटकों में व्यंग्य का प्रयोग किया है। कहीं-कहीं यह व्यंग्य बहुत ही तीक्ष्ण और कटु भी हो गये हैं। उदाहरण के लिए 'वत्सराज' नाटक में वसंतक भगवान बुद्ध के समानता के सिद्धान्त का उपहास निम्न वार्तालाप में इस प्रकार करता है :—

वसंतक—"हाँ देवी...वस्त्र का भेद न होता तो फिर भिक्षु-भिक्षुणी में कौन क्या है...पहचानना भी कठिन होता।"

पद्मावती—"अरे क्या कह रहे हो! नर और नारी पहचाने नहीं जाते?"

वसंतक—"चम्पक के रङ्ग के सबके शरीर...रेख भी अभी नहीं भीनी जिन कुमारों की...मुण्डित केश...पीले परिधान...एड़ियाँ सबकी

वस्त्र के अवरोध में...उपधान भिन्न न होते तो फिर पहचानना कठिन होता देवी।"

पद्मावती—"हे भगवान्! शरीर के अंगों का भेद भी मिट गया?"

वसंतक—"गौतम का ज्ञान यही नहीं कर सका...किशोरी के वक्ष उनके ज्ञान से सपाट बराबर न हुए...नहीं तो फिर..."

उदयन—"चुप रहो वसंतक, अब न कहो!"

लेखक के समस्या-प्रधान नाटकों में विशेष रूप से स्थान स्थान पर रूढ़ियों और पुरातन संस्कारों का खंडन करने में व्यंग्य का प्रयोग किया गया है। 'राक्षस के मन्दिर' में लेखक ने आधुनिक सभ्यता और सामाजिक व्यवस्था के प्रति रघुनाथ द्वारा इन शब्दों का प्रयोग कराया है, "वह तो मैं कह चुका हूँ—लम्बी-चौड़ी आश्चर्यजनक होगी। उसमें सत्य कितना होगा ....लेकिन संसार को सत्य से क्या मतलब? कौन कितना धोखा दे सकता है—सेवा और योग्यता की यही सर्टीफिकेट है।" इस कथन में सर्टीफिकेट शब्द के प्रयोग से उसकी सजीवता और प्रभावोत्पादकता निश्चय ही बढ़ गई है। इसी प्रकार 'संन्यासी में हिन्दू-समाज और उसमें नारी की दशा पर इस वार्तालाप में व्यंग्य किया गया है :—

अहमद—"आग पर पानी न डालकर घी डाल रहे हो? इस खत से उसकी क्या हालत होगी? कहीं इन्कार न कर बैठे?"

विश्वकांत—"इसका डर नहीं। वह हिन्दू लड़की है—अपने समाज, माँ-बाप, की तबियत के खिलाफ खड़ी नहीं हो सकती। हम लोग समाज की भलाई के सामने व्यक्ति की कुछ परवाह नहीं करते—हम लोग पूरे सोशलिस्ट हैं।"

आधुनिक प्रगतिशील समाज में नवयुवक और नवयुवतियों का प्रेम कैसा होता है, इसका कितने सुन्दर और व्यंग्यात्मक ढङ्ग से लेखक ने चित्र उपस्थित किया है। मालती कहती है, "जिस तरह भोजन और पानी बिना काम नहीं चल सकता—उसी तरह स्त्री और पुरुष बिना काम नहीं चल सकता। यह प्रकृति की बात है।"

यदि प्रेम वासनाजन्य होता है तो वह कितना अस्थायी होता है, इसे लेखक ने 'सिन्दूर की होली' में मनोरमा के मुख से इस प्रकार व्यक्त कराया है, :—

मुरारीलाल—"अच्छा तो तुम कहाँ जाओगी? मैं तुम्हें रोकना नहीं चाहता...तुम जा सकती हो।"

मनोरमा---सत्य का सूत कच्चा था, कितनी जल्दी टूट गया----आप मुझे रोकेंगे क्यों?"

व्यंग्य के साथ ही हास्य का भी प्रयोग किया गया है, किन्तु वह कुछ थोड़े से स्थलों पर ही मिलता है। कहीं-कहीं सुन्दर तर्कों द्वारा भी हास्य का वातावरण उपस्थित किया गया है। 'अशोक' में एण्टीओकस और उसके मंत्री का यह वार्तालाप देखिये---

मंत्री—"लेकिन कहने में इसकी मिठास कम हो जायगी!"

एण्टीओकस—"यह तो अच्छा नहीं, मैं तो खड़े खड़े ताक रहा हूँ, और आप मिठास का मजा ले रहे हैं।"

मंत्री—"आप भी मजा लेंगे, परन्तु मेरे बाद।"

एण्टीओकस—"तब तो वह आपका जूठा हो जायगा।"

मंत्री—"यही तो सम्राट और मंत्री का अन्तर है। सम्राट् को जो कुछ मिलता है, सभी मंत्री का जूठा मिलता है।"

व्यंग्यात्मक हास्य के भी रचनाओं में कई सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। 'सिन्दूर' की होली' में मनोरमा, मनोजशंकर के आकर्षण की व्याख्या कितने परिहासमय शब्दों में करती है, "डिप्टी साहब के लिए भी मैं समस्या हूँ और तुम्हारे लिए भी। मैं क्या करूँ? किसके लिए रोऊँ? अपने लिए, तुम्हारे लिए, साहब के लिए अथवा चन्द्रकला के लिए? चन्द्रकला की दवा के लिए डाक्टर आये हैं, हम मरीजों की दवा कौन करेगा? चन्द्रकला का रोग असाध्य है लेकिन हम तीनों का तो संघातक हो गया है।"

मिश्र जी की भाषा के सम्बंध में जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, वह शुद्ध और संस्कृतनिष्ठ हिन्दी होते हुए भी सरल और प्रभावोत्पादक है।

यद्यपि आपकी रचनाओं में कहीं कहीं विदेशी शब्दों का प्रयोग भी मिलता है, किन्तु उनकी संख्या बहुत कम है। यहाँ, यह कहना असंगत न होगा कि भाषा की सजीवता बहुत कुछ लेखक की अनुभूति पर निर्भर करती है। जब कोई लेखक तीव्र अनुभूति के कारण विकल हो उठता है और अपने मनोभावों को व्यक्त करने के लिए विवशता का अनुभव करने लगता है तो आप ही आप उसके शब्दों में गति और भाषा में प्रवाह आ जाता है। मिश्र जी की रचनाओं का अवलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि तीव्र अनुभूति के ही कारण उनकी भाषा इतनी प्रभावोत्पादक और सजीव बन सकी। इसके अतिरिक्त आपकी कृतियों में शब्द-शक्तियों का—अभिधा लक्षण और व्यंजना—तीनों का सुन्दर प्रयोग स्थान-स्थान पर मिलता है। इसी कारण नाटकों के संवाद स्वाभाविक होने के साथ ही साथ चुभते हुए हैं।

अंग्रेजी का प्रयोग

मिश्र जी के नाटकों में कहीं-कहीं आधुनिक विचारों को व्यक्त करने के लिए अंग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। अंग्रेजी शब्दों का यह प्रयोग तो अधिक नहीं खटकता, किन्तु जहाँ पात्र पूरा वाक्य ही अंग्रेजी में बोलते हैं वहाँ वह अधिक उचित नहीं जान पड़ता। उदाहरण के लिए 'राक्षस का मन्दिर' में रामलाल और मुनीश्वर के इन कथनों को देखिये:—

रघुनाथ—"Is this your philosophy fool ?"

ललिता—"Yes, where is the inconsistancy ?"

अन्यत्र ललिता और रघुनाथ के मध्य भी वार्तालाप में इसी प्रकार अंग्रेजी वाक्यों का प्रयोग किया गया है :—

ललिता—"ठहरिये, पहले मुझे पूछ लेने दीजिये, फिर मैं आपका उत्तर दूँगी। मैं आपका परिचय जानना...। आप कौन हैं ? आपकी क्या जाति है ? क्या अवस्था है ? आप यहाँ कैसे और किसलिये आये ?"

रघुनाथ—"Too much aggrassive."

ललिता—"आप लोग लेखक होते हुए भी अपनी भाषा में नहीं

बोलते। इतनी ईमानदारी भी आप लोगों में नहीं है। अगर मैं अंग्रेजी नहीं जानती? खैर, इसमें aggrassiveness क्या है महाशय?"

इसी प्रकार सामाजिक जीवन-दर्शन की व्याख्या करते हुए लेखक ने आजकल के युवक वर्ग की बोलचाल की भाषा का नमूना इस प्रकार उपस्थित किया है। हमारी बोलचाल की भाषा में अंग्रेजी शब्दावली उसी प्रकार घुस आई है जिस प्रकार पहले से चले आये उर्दू तथा फारसी के शब्द। हम अपनी भाषा का शुद्ध प्रयोग तक नहीं कर सकते जिसका यह रूप लेखक ने प्रस्तुत किया है :—

दूसरा—"That is always moral.

तीसरा—"No sir, that is seldom moral. It requires thrashing. Have'nt you read Hobbes.

दूसरा—"I have read Rousseau and Tolstoy too.

तीसरा—"They are sentimental moralists with very little life and its subtlities.

इन उद्धरणों से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि मिश्र जी ने जहाँ कहीं इस प्रकार के कथनों का प्रयोग किया है वह वास्तव में यह दिखाने के लिए कि आज भारतीय शिक्षित समाज में भाषा का शुद्ध प्रयोग तक नहीं रह गया है। फिर भी यह विचारणीय प्रश्न है कि नाटक में इस प्रकार अंग्रेजी शब्दों और वाक्यों का प्रयोग कहाँ तक उचित है। विशेषकर नाटक में अभिनेयता को ध्यान में रखते हुए यह प्रश्न और भी महत्व पूर्ण हो जाता है। इस सम्बंध में इतना तो निश्चित ही है कि अंग्रेजी शब्दों और वाक्यों का इस प्रकार प्रयोग करने से नाटक के वह स्थल जन-साधारण के लिए दुरूह हो जाते हैं। अतः अभिनेयता की दृष्टि से अंग्रेजी शब्दों और वाक्यों का अधिक प्रयोग उचित नहीं कहा जा सकता।

लेखक ने अपने नाटकों में कहीं-कहीं संस्कृत श्लोकों का भी समावेश किया है। उदाहरण के लिए 'राक्षस का मन्दिर' में मुनीश्वर का यह कथन देखिये :—

मुनीश्वर—"वकील साहब, सब कोई आप ही की तरह नहीं हो सकता। कौन कह सकता है कि आप हत्यारे हैं...? आपकी जिन्दगी देख कर...आपने जिन्दगी को जीत लिया है और मुझे जिन्दगी ने जीत लिया है। इन दोनों में अन्तर है। मेरे लिये तो :-

जानामि धर्मम नच में प्रवृतिः,
जानामि धर्मम नच में निवृतिः,
केनापिदेवेन हृद्स्थितेन—
यथा नियुक्तेस्मि तथा करोमि।"

भाषा के दोष

मिश्र जी की भाषा में उपर्युक्त गुण होते हुए भी वह पूर्णतया दोष रहित नहीं कही जा सकती। कहीं-कहीं उसमें व्याकरण तथा प्रयोग सम्बंधी दोष स्पष्ट लक्षित होते हैं। 'राक्षस का मन्दिर' नाटक में भाषा के यह दोष सबसे अधिक है। उदाहरण के लिए निम्न वाक्य उद्धृत किये जा सकते हैं :—

(१) 'रंज मत हो' (पृष्ठ ५)
(२) 'कैसे जाने पावो' (पृष्ठ ४)
(३) 'उसीसे गुजर हो जायगा (पृष्ठ ६)

इसी प्रकार 'सिन्दूर की होली' में भी भाषा के दोष दिखायी देते

१. मैं फाँसी पढूँगी (पृष्ठ ६६)
२. वह लौंडा मेरी इज्जत बिगाड़ ढिये होता' (पृष्ठ १६)
३. तुमको भी उसकी चालचलन पसंद नहीं' (पृष्ठ २४)

लेखक के अन्य नाटकों में भी प्रयोग और व्याकरण सम्बंधी भाषा के यह दोष कहीं कहीं मिल जाते हैं।' काँटा बनेगा उसे फूँक दूँगी' अथवा 'बीमारी की जड़ निकाल लूँगी' आदि प्रयोग शुद्ध नहीं कहे जा सकते। भाषा के यह साधारण दोष होते हुए भी लेखक का भाषा पर अच्छा अधिकार है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं।

शैली और उसका महत्व

जिस प्रकार वाणी का माध्यम भाषा है उसी प्रकार भाषा के शब्दों की योजना शैली कहलाती है। पाश्चात्य विद्वान 'रैले' का कथन है "good style is the greatest revealer, it lays bare the soul" अर्थात् अच्छी शैली लेखक के आन्तरिक मूल भावों को व्यक्त करती है। शैली ही भाषा का वह उपकरण है जिसके द्वारा शब्दों की शक्ति और गुणों का परिचय मिलता है। शैली ही वह साधन है जिससे वैयक्तिक प्रतिभा की जाँच की जा सकती है। किसी भी लेखक की रचना की सफलता और प्रभावोत्पादकता बहुत कुछ उसकी शैली पर निर्भर करती है।

सांकेतिक शैली

काव्य के अन्तर्गत जिस प्रकार लक्षणा और व्यंजना आदि द्वारा उसे सरस और हृदयग्राही बनाया जाता है उसी प्रकार गद्य तथा नाटक की भाषा में भी मुहावरे, कहावतें, सूक्तियों आदि के साथ ही उसमें ऐसे रूपकों आदि की योजना की जाती है जो उसे सजीव और प्रभावोत्पादक बनाते हैं।

मिश्र जी ने अपने सभी नाटकों में अधिकतर (suggestive) सांकेतिक शैली का प्रयोग किया है। उन सभी स्थलों में जहाँ वे आन्तरिक मनोवेगों की तीव्रता प्रदर्शित करना चाहते हैं अथवा पात्रों के मुख से किसी अश्लील विचार को व्यक्त कराना चाहते हैं वहाँ उन्होंने सांकेतिक भाषा का प्रयोग किया है। इन स्थलों पर शब्दों के बीच में बिन्दुओं के सहारे कथानक को आगे बढ़ाया गया है। कहीं-कहीं रुक-रुक कर पात्र अपने विचार व्यक्त करता है। उदाहरण के लिए किरणमयी का यह कथन देखिये, "हँसो, जोर से हँसो। तुम्हे हँसी आ रही है और मुझे दर्द। जब नहीं तब...तुम कितने...जब चाहते हो...कोई भी वक्त हो...रात हो या दिन हो बराबर नशे में। सबेरे उठती हूँ तो बड़ी देर तक पैर जमीन पर सीधा नहीं पड़ता...तुम्हें देखती हूँ तो काँप जाती हूँ। "इसी प्रकार 'राजयोग' नाटक में चम्पा, शत्रुसूदन से कहती है, "भ्रम और मिथ्या की भाषा

को छोड़कर यदि यों कहूँ कि मेरा काम है रात को आपकी सेज पर और दिन को कठपुतली की तरह आपके इशारे पर···आपकी मर्जी पर अपने को छोड़ देना···अपने शरीर को···अपने हृदय को, अपनी आत्मा को···।"

इसी शैली में कहीं-कहीं भावोन्माद के सुन्दर चित्र प्रस्तुत करने में लेखक को यथेष्ट सफलता मिली है। चन्द्रकला विरह की उन्मादावस्था में मनोरमा से कहती है, "क्या 'अरे, अरे' कर रही हो···इसमें विस्मय क्या है? मेरा प्रेमी वहाँ था···तुम जानती हो। यह मेरी सुहागरात है···कितनी सूनी···लेकिन कितनी व्यापक। इसका अंत नहीं है। मेरा पुरुष मुझे अपनी गुलामी में न रख सका···मुझे सदैव के लिए स्वतंत्र कर गया। मुझे जो अवसर कभी न मिलता वह मिल गया।" इसी प्रकार विरह जनित उन्माद में डायना कहती है, "इतनी दूर क्यों आई—जब यह होना था। आह, कितना परिवर्तन हो गया, जैसे वह नहीं हूँ। यह सारा संसार वह नहीं है। तुमने मुझे प्रेम क्यों किया—क्यों किया एण्टीपेटर। सुना है प्रेम से मनुष्य अमर होता है, और तुम मरे केवल प्रेम से। यदि प्रेम न करते तो अभी नहीं मरते। अपने हृदय में रखती हुई भी मैं तुम्हें न बचा सकी। भीतर के इस प्रणय-कुँज में कोकिल! अभी वसंत नहीं गया, और तुम चले गये।"

भावुकता नारी-जाति की नैसर्गिक देन है। नारी चाहे जितनी शिक्षित हो जाय, बुद्धिवाद की चाहे जितनी पर्तें उसके मानस पर चढ़ जाँय पर उसकी करुणा और भावुकता पूर्णतया दूर नहीं हो पातीं। नारी की भावुकता का यह चित्र देखिये—मनोरमा कहती है, "इसलिये कि वह तूलिका होती है···उसके भीतर शरत की चाँदनी होती है, वसंत का पवन होता है—ग्रीष्म का अनुताप होता है, हृदय का रस, दो सुन्दर शब्द, जिनका अर्थ होता है···वासना, विकार, अपने पाप की प्रदर्शिनी···आत्मा का···आत्मा का रस खोजो···मेरे लिए भी औरों के लिए भी···।"

अलंकारों की योजना

लेखक की भाषा-शैली में कहीं-कहीं सुन्दर उपमाएँ भी देखने को

मिलती हैं। उदाहरण के लिए एण्टीपेटर के इस कथन को देखिये—"कैसा सुन्दर वह स्वप्न है—जैसे हृदय की सम्पूर्ण साधना का प्रकाश-चित्र है—जीवन के सुख-समूह का केलि-मन्दिर है—मेरे इस सन्नाटे जगत का चिरन्तन संगीत है⋯भीतर की इस तपती हुई रेती में बहता हुआ जल का एक शीतल अक्षय प्रवाह है! उसे केवल तुम्हीं जानती हो डायना।"

भाषा और शैली की दृष्टि से लेखक का 'नारद की वीणा' नामक नाटक उच्चकोटि की रचना है। इस नाटक में पात्रों के कथोपकथनों में जिन शब्दों का चयन किया गया है वह कथावस्तु को सरस, रोचक और प्रभावोत्पादक बनाने में सहायक होते हैं। इस नाटक की भाषा-शैली में स्थान स्थान पर सुन्दर उपमाएँ भी मिलती हैं। पुरुष और नारी के आकर्षण को स्वाभाविक बताते हुए नर इन शब्दों में उसका समर्थन करते हैं, "वही, जिसके लिए सुमित्र और चन्द्रभागा को तुम अपराधी कहोगे भद्र! लेकिन यह अपराध तो प्रकृति का है। प्रकृति में वसंत का आना निर्दोष है या उसमें भी कोई दोष तुम देखते हो?" इसी प्रकार प्रस्तुत कथन में दी गई उपमाएँ भी लेखक की भाषा को सजीव बनाने में सहायक सिद्ध हुई हैं, "और प्रकृति में एकरूपता पैदा हो जायगी जो मृत्यु का स्वभाव है। जीवन के स्वभाव में परिवर्तन, प्रकृति की तरह नित्य का परिवर्तन है। परिवर्तन में वसंत भी है और ग्रीष्म भी। हम लोगों ने अपने जीवन में बस ग्रीष्म को ही जगह दी थी। वसंत के आने के सारे मार्ग हमने रोक दिये। हमारी जनशक्ति तो घटती ही गई, जीवन का स्रोत भी हमारा सूख गया। हम जीवित मृत हैं। साँस भी लेते हैं तो योग और वेदान्त की...हमारे हृदय में जो कुछ भी धड़कन बच रही है वह हमारे हृदय की नहीं जिसमें हमारे इस भौतिक शरीर का जल चक्कर काटता है, वरन् उन विचारों और विश्वासों की...जिन्हें हमने युगों से अपनी प्रकृति बदल देने के लिए अपना लिया है।" लेखक के लगभग सभी नाटकों में शैली का यह प्रवाह और सुन्दर उपमाओं की योजना

दृष्टिगोचर होती है। इसी कारण नाटकों के कथोपकथन सरस और प्रभावपूर्ण हैं।

कथोपकथनों का अत्यधिक विस्तार

लेखक के समस्या प्रधान नाटकों में सामाजिक विचारधारा का प्रतिपादन करते हुए जो पात्र समाज-सेवक के रूप में आते हैं उनके कथोपकथन कहीं-कहीं आवश्यकता से अधिक लंबे हो गये हैं। कुछ स्थानों पर तो यह बिल्कुल भाषण से लगते हैं जो खटकता है। इस प्रकार की शैली नाटक की अभिनेयता की दृष्टि से अधिक सफल नहीं कही जा सकती। नाटक के संवाद तो इस प्रकार के होने चाहिए कि वे प्रभावपूर्ण होते हुए भी उपदेशात्मक न प्रतीत हों। 'मुक्ति का रहस्य' में उमाशंकर, 'संन्यासी' में मालती, 'राक्षस का मंदिर' में रघुनाथ, 'सिन्दूर की होली' की मनोरमा, आदि ऐसे पात्र हैं जिनके कथोपकथन कहीं-कहीं आवश्यकता से अधिक विस्तृत हो गये हैं। उदाहरण के लिए उमाशंकर का यह कथन देखिये, "घर की सम्पत्ति मैं अपने लिए छोड़ रहा हूँ। अपनी मुक्ति के लिए। साम्यवाद की लहर आ रही है—देश की सम्पत्ति राष्ट्र की सम्पत्ति होगी—राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति की—धनी, गरीब—यह बात मिटने वाली है। अब तो वह युग आ रहा है जिसमें मनुष्य के समान अधिकार और समान कर्त्तव्य होंगे—स्वामी और सेवक, पूँजीपति और मजदूर...इन बातों में पड़कर दुनिया बहुत बिगड़ चुकी है। उसकी रीढ़ की हड्डी टूट चुकी है, वह सीधी खड़ी नहीं हो सकती। समाज परिवर्तन नहीं, क्रान्ति चाहता है। पुरानी इमारत की मरम्मत बहुत हुई—इतनी हुई कि अब उसमें दूसरी मरम्मत की जगह नहीं है। उसकी नींव हिल रही है—एक धक्का, और साफ। जो समाज की सच्ची भलाई चाहने वाले हैं उनका काम है कि इस कमजोर नींव पर एक भी नई ईंट न रखें, उस पर और बोझ न लादें। या तो उसे छोड़कर खुले आसमान के नीचे आ जांय...मनुष्य जाति की वह आदिम अवस्था जिसमें न धर्म, न अधर्म, न पाप, न पुण्य, न शिक्षा, न मूर्खता—प्रकृति के जड़ नियमों में जड़ मनुष्य का जीवन, न घर, न परिवार, न

समाज, न देश। कहीं कुछ नहीं। सब एक रस।...और नहीं तो फिर इस इमारत को गिराकर उसकी नींव खोदकर फेंक दें और उसकी जगह दूसरी इमारत की नींव डालें। पुरानी इमारत की एक ईंट भी इस नयी इमारत में न लगे—नही तो वह बैठेगी नहीं।" इस प्रकार के कथोपकथन विशेषकर नाटक में अभिनय की दृष्टि से सफल नहीं कहे जा सकते।

संक्षेप में लेखक की भाषा और शैली के सम्बंध में हम यह कह सकते हैं कि उसमें उसे पूरी सफलता मिली है। यद्यपि कहीं-कहीं भाव तथा स्थानानुकूल तत्सम शब्दावली का भी प्रयोग किया गया है पर कुल मिलाकर नाटकों की भाषा सरल, स्वाभाविक और प्रभावपूर्ण है। लेखक ने भाव की ओर अधिक ध्यान दिया है और जो कुछ वह कहना चाहता है वह जिस प्रकार की भाषा और जिस शैली में अधिक प्रभावपूर्ण और स्वाभाविक प्रतीत होता है, उसको उसी रूप में व्यक्त किया गया है। लेखक की भाषा-शैली, सरल, बोधगम्य और प्रभावोत्पादक है।

उपसंहार

प्रसादोत्तर नाट्य-साहित्य के अन्तर्गत जिन महान नाटककारों की परिगणना की जा सकती है, मिश्र जी निर्विवाद रूप से उन सबमें प्रमुख तो हैं ही साथ ही आपने हिन्दी नाटकों की जिस नवीन धारा और सांस्कृतिक जिज्ञासा को जन्म दिया उससे आपका महत्व और भी बढ़ जाता है। आपने भारतीय समाज की विशेषताओं को लेकर अपने नाटकों की रचना की है। इसी कारण आपकी अधिकांश नाट्य रचनाएँ समस्या प्रधान हैं, जिनमें नारी समस्या, सेक्स की समस्या, राष्ट्रीय समस्याएँ, सरकारी पदाधिकारियों की समस्या, देशसेवकों की समस्या, विधवाओं की समस्या आदि अनेक समस्याओं का समावेश किया है।

हाँ, इन समस्याओं पर विचार करने का उनका अपना दृष्टिकोण है। यदि वे एक ओर नारी-स्वतंत्रता के पक्षपाती हैं तो दूसरी ओर युवक युवतियों की सह-शिक्षा के विरोधी हैं। स्त्री, पुरुष के आकर्षण को वे नितांत स्वाभाविक और नैसर्गिक आवश्यकता की पूर्ति मानते हैं। आदर्श और सभ्यता की प्रगति की आड़ में जिन सामाजिक विषमताओं का जन्म और विकास होता है उसकी स्पष्ट और तीखी आलोचना लेखक ने की है। उसने अपनी बौद्धिक विचारधारा का अनुसरण कर हिन्दी में सर्वथा नवीन विचार और वर्णन-शैली को जन्म दिया है।

साहित्य और कला के सम्बंध में उनका दृष्टिकोण भी औरों से भिन्न है। कला के प्रति उनकी धारणा है कि यदि वह जीवन के संस्कारों को छूती हुई हमारी प्रसुप्त चेतना को न जगा सकी तो वास्तव में वह कला नहीं है। वह 'कला' को 'कला के लिए' मानने के विरोधी तो हैं ही साथ साथ ही उनके विचार से कला का प्रमुख उद्देश्य है मानव-हृदय में पश्चात्ताप जाग्रत कर उसे सद्वृत्तियों की ओर उन्मुख करना।

इसी दृष्टिकोण के अनुसार उन्होंने अपने समस्या-प्रधान नाटकों का सृजन किया है। हमारे समाज का संगठन और उसके मानदण्ड पाश्चात्य देशों से नितांत भिन्न हैं, इस कारण हमारी समस्याओं के हल भी पश्चात्य देशों की अपेक्षा भिन्न होंगे, ऐसा आपका विचार है।

ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक नाटकों में मिश्र जी ने मौलिक उद्‌भावनाएँ उपस्थित की है। 'गरुड़ध्वज, अशोक, दशाश्वमेध, नारद की वीणा वत्सराज' आदि नाटक उनके ऐतिहासिक और पौराणिक ज्ञान के साथ ही उनकी नवीन और मौलिक विचारशैली का दिग्दर्शन कराते हैं। आर्यों और अनार्यों के संघर्ष, मौर्यकालीन प्रसिद्ध सम्राट अशोक की प्रारम्भिक जीवन-वृत्तियाँ तथा उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने का, मिश्र जी का अपना मौलिक प्रयास है। 'वत्सराज' नाटक में उन्होंने प्रसाद तथा उनके पूर्ववर्ती नाटककारों की परंपरा जिसमें उदयन का चरित्र एक विलासी शासक के रूप में उपस्थित किया गया है, खंडन कर, शुद्ध भारतीय धीरोदात्त नायक के रूप में उसका चरित्र चित्रित किया है। ऐतिहासिक नाटक के इस कथानक को थोड़े से पात्रों की सीमा में बाँधकर उसको चरित्र—प्रधान नाटक बना देना उनका ही कार्य है। 'गरुड़ध्वज' के अन्तर्गत् उनके इस ऐतिहासिक अनुसन्धान की जिज्ञासा का आभास मिलता है, जिसमें उन्होंने बिखरे हुए विदिशा राजधानी के अवशेषों को सँजोकर कल्पना और साहित्य-प्रमाणों के आधार पर शुंगवंश की परंपरा स्थापित की है।

मिश्र जी की सबसे बड़ी विशेषता है उनका अतीत के प्रति प्रेम। यद्यपि वे पाश्चात्य नाटककारों, इब्सन तथा शा आदि (सामाजिक चेतना को जाग्रत करने वाले) की क्रान्तिकारी विचारधारा की प्रेरणा लेकर आगे बढ़े हैं और उन्हीं के अनुरूप हमारे सड़े-गले जीवन का परिष्कार करने का प्रयत्न भी किया है, फिर भी उनकी रचनाओं में भारतीय विचारधारा का प्रवाह है, उन्होंने उनका बुद्धिवादी दृष्टिकोण अपनाया अवश्य है, पर उसे भी भारतीय विचारधारा के अनुकूल बना कर। लेखक का विचार है कि बुद्धिवाद कोई ऐसी वस्तु नहीं जो विदेशियों की ही बपौती हो। हाँ, उनके चिन्तन

पक्ष की सराहना अवश्य की है और उसी के अनुसार हिन्दी नाटकों की नवीन धारा प्रवाहित करने में लेखक ने भगीरथ प्रयत्न किया है।

लेखक ने नाटक को साहित्य का सबसे आवश्यक अंग माना है जो जीवन को सबसे अधिक प्रभावित करता है। अतः नाटककार का उत्तरदायित्व और भी बढ़ जाता है और उसे कल्पना-लोक के चित्रण की अपेक्षा मानवीय धरातल पर लाने के लिए नाटककार को निरपेक्ष भाव से यथार्थ और वास्तविकता का चित्रण करना पड़ता है। इसी व्यापक दृष्टिकोण को लेकर मिश्र जी ने अपने नाटकों में स्वगत कथन, गीत तथा भावुकतामय कथनों को अनावश्यक और अस्वाभाविक बताते हुए उनका समावेश नहीं किया है। आपके नाटकों में जिस गम्भीरता के साथ जीवन की विषमताओं और कटु सत्यों का निरूपण प्रस्तुत किया गया है वह अत्यन्त स्वाभाविक और रोचक होने के साथ ही साथ प्रभावपूर्ण भी है।

मिश्र जी की रचनाएँ प्राचीन संस्कृत-नाट्य-प्रणाली पर आधारित न होते हुए भी भारतीय विचारधारा, संस्कृति और दर्शन से अनुप्राणित हैं। जहाँ एक ओर आपने पाश्चात्य लेखकों के यथार्थवादी दृष्टिकोण का सहारा लेकर भारतीय-जीवन की विषमताओं का सजीव चित्रण किया है, वहाँ दूसरी ओर आपके ऐतिहासिक और सांस्कृतिक नाटकों में भारतीयता की अमिट छाप मिलती है।

परिशिष्ट

मृत्युंजय

लेखक का यह नाटक राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के जीवन की प्रमुख घटनाओं पर आधारित है। भूमिका में ही एक स्थान पर यह उल्लेख किया गया है, "जीवित व्यक्तियों को चरित्र बनाना संस्कृत नाटक-पद्धति में वर्जित रहा है। इस नाटक में इस नियम का निर्वाह किया गया है।"

नाटक के आरंभ में सरदार पटेल और गाँधी जी के वार्तालाप में उन्हें पुत्र महादेव और पत्नी कस्तूरबा के वियोग में व्याकुल दिखाया गया है। सरदार पटेल और सरोजनी नायडू के अनुरोध करने पर गाँधी जी महादेव और बा के विषय में अपने आंतरिक मनोभाव व्यक्त करते हैं जो वास्तव में मर्मस्पर्शी हैं।

सरदार पटेल और सरोजनी नायडू के मध्य होने वाले वार्तालाप में लेखक ने गाँधी जी द्वारा इस देश की प्राचीन मान्यताओं तथा कला और साहित्य के उच्च आदर्शों का विवेचन कराया है। भारतीय और पाश्चात्य साहित्य की कई स्थानों पर तुलना कराते हुए व्यक्तिवादी पाश्चात्य साहित्य की न केवल कटु आलोचना की गई है, वरन् उसे इस देश की प्रगति में बाधक सिद्ध किया गया है। प्रथम अंक में मुख्यतः नाटककार ने गाँधी जी द्वारा इस देश की प्राचीन मान्यताओं, धर्म, साहित्य, दर्शन और कला आदि के उच्च भारतीय आदर्शों की विवेचना प्रस्तुत करायी है।

द्वितीय अंक में गाँधी जी को हरिजन बस्ती में दिखाया गया है। देश विभाजन के प्रस्ताव पर स्वीकृति प्रदान करने के पूर्व आचार्य नरेन्द्र देव और मौलाना आजाद के सम्मुख वह अपनी आत्म-ग्लानि प्रदर्शित करते हैं। हिन्दू और मुसलमानों की सांप्रदायिक भावना पर भी नेताओं द्वारा विचार-विनियम दिखाया गया है।

तीसरे अंक में गाँधी जी को बिड़ला भवन में दिखाया गया है। सरदार पटेल और मौलाना आजाद गाँधी जी की सुरक्षा के लिए चिंतित दिखाये गए हैं। सुरक्षा के लिए प्रार्थना-सभा में पुलिस आदि का कोई भी

नियंत्रण गाँधी जी स्वीकार नहीं करते। निराश होकर मौलाना आज़ाद और सरदार पटेल वापस लौट जाते हैं। ठीक समय पर दो कुमारियों का सहारा लिये हुए गाँधी जी प्रार्थना सभा के लिए बाहर निकलते हैं। प्रार्थना मँच पर पहुँचते ही पिस्तौल की चार गोलियाँ छूटती हैं और 'हे राम' कहते हुए गाँधी जी धराशायी हो जाते हैं।

प्रस्तुत रचना के नाटककार ने गाँधी जी की सम्पूर्ण जीवनी चित्रत करने के स्थान पर उनकी विचारधारा को प्रमुखता दी है। गाँधी जी के जीवन की अनेक प्रमुख घटनाओं का समावेश इस रचना में नहीं हो पाया हैं। फिर भी यह उल्लेखनीय है कि उनकी विचारधारा का पर्याप्त ज्ञान पाठकों को प्राप्त हो सकता है।

यह कहना असंगत न होगा कि विभिन्न विषयों पर गाँधी जी के विचारों को प्रस्तुत करने में नाटककार का अपना दृष्टिकोण प्रमुख रहा है। इस रचना में देश के स्वाधीनता संग्राम में गाँधी जी के नेतृत्व तथा अन्य प्रमुख राजनैतिक घटनाओं को उतना महत्व नहीं दिया गया है जितना कि भारतीय धर्म, दर्शन, साहित्य और देश की प्राचीन मान्यताओं के प्रति गाँधी जी की अवस्था के प्रदर्शन को। नाटक में आद्योपान्त इन विषयों पर विचार विमर्ष कराया गया है।

प्रस्तुत रचना में लेखक ने स्थान-स्थान पर गाँधी जी द्वारा पाश्चात्य साहित्य की कटु आलोचना करायी है। इसमें संदेह नहीं कि गाँधी जी इस देश की प्राचीन मान्यताओं, साहित्य के उच्च आदर्शों तथा प्रत्येक क्षेत्र में भारतीयता के सबसे बड़े समर्थक थे, किन्तु यह विचारणीय अवश्य है कि जिन शब्दों में पाश्चात्य साहित्य और साहित्यकारों की आलोचना इस रचना में गाँधी जी द्वारा करायी गई है वह कहाँ तक उचित है।

उदाहरण के लिए तीसरे अंक में एक स्थान पर नाटककार ने गाँधी जी द्वारा पाश्चात्य साहित्य की निन्दा इस प्रकार करायी है, "अंग्रेजी में छपी पुस्तकें जो जहाज़ भर कर यहाँ चली आ रही हैं, उनसे देश का धन ही नहीं खींचा जा रहा है, अविद्या का प्रचार भी हो रहा है।......

कविता, नाटक, कहानी, साहित्य-विवेचन के ग्रन्थ जो आ रहे हैं उनकी इस देश में कोई आवश्यकता नहीं है। तुलसीदास की रामायण के साथ जब यहाँ छात्र शेक्सपियर का नाटक भी पढ़ेंगे तो निश्चित है वे भरत नहीं बनेंगे, मैकबेथ बनेंगे। विदेशी साहित्य हमारे भावलोक में कोढ़ बनेगा, सरदार। उस दिन प्रार्थना सभा में जो बम फेंका गया उसमें उस साहित्य के चरित्रों के आचरण की झलक है। फेंकने वाला देह से देशी, पर बुद्धि और व्यवहार में विदेशी बन चुका है। आगे भी जो ऐसा काण्ड हो तो उसका करने वाला विदेशी साहित्य में पला होगा, उस साहित्य के कर्म उसके अपने कर्म बन गए होंगे।" इन कथनों में कहाँ तक महात्मा गाँधी के विचारों की झलक है, यह विचारणीय प्रश्न हो जाता है।

इस नाटक के सम्बंध में हम संक्षेप में यह कह सकते हैं कि इसके द्वारा पाठकों को महात्मा गाँधी के महान व्यक्तित्व और उनकी विचारधारा की एक झलक मिल सकती है।

जगद्गुरु

लेखक की एक अन्य रचना 'भगवान मनु तथा अन्य एकांकी' नामक नाट्य-संग्रह में अंतिम एकांकी आचार्य शंकर शीर्षक से है जिस पर सविस्तार अन्यत्र विचार किया जा चुका है। प्रस्तुत नाटक भी आचार्य शंकर की जीवनी पर आधारित है। तीन अंक की इस रचना में जगद्गुरु शंकर के जीवन की अनेक प्रमुख घटनाओं का चित्रण किया गया है। इस नाटक में भी अधिकांश पात्र वही हैं जिनका विवेचन आचार्य शंकर शीर्षक एकांकी नाटक में किया जा चुका है।

इस रचना के सम्बंध में हमें यही कहना है कि इसके द्वारा पाठकों के हृदय में आचार्य शंकर के महान व्यक्तित्व की अमिट छाप छोड़ने में नाटककार को पर्याप्त सफलता मिली है।